समाजवाद : पूंजीवाद

लेखक
शोभालाल गुप्त

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
—शाखाएँ—
दिल्ली : लखनऊ : इन्दौर

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

संस्करण
अगस्त १९४७ : २,०००

मूल्य
बारह आना

मुद्रक
एम० एन० ठुलल
फेडरल ट्रेड प्रेस,
नया बाजार, दिल्ली।

दो शब्द

संसार में इस समय दो विचार-धारायें—पूँजीवाद और समाजवाद—प्रवाहित हो रही हैं। यह एक अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है कि किस विचार-धारा को अपनाने से मानव-समाज का अधिक-से-अधिक कल्याण होगा। यह प्रश्न हरेक व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखता है। यदि उसे अपने भविष्य का—और वह भी उज्ज्वल भविष्य का—निर्माण करना है, तो उसे समाज की वर्तमान और भावी व्यवस्था पर विचार करना और यह निश्चय करना होगा कि वह उसके निर्माण में क्या भाग अदा करे। ऐसा देखा गया है कि जब लोग राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो आवश्यक सामग्री के अभाव में अपना मार्ग तय करने में उन्हें बड़ी कठिनाई होती है। वे बेसमझे पूँजीवाद की निन्दा और साम्यवाद की प्रशंसा में बड़े-बड़े नारे सुनते हैं। विशेषकर इन विचार-धाराओं के सम्बन्ध में जो साहित्य पाया जाता है, उसकी मनोभूमिका विदेशी होने के कारण और उसको उपस्थित करने का तरीका सरल न होने के कारण सामान्य लोगों को बड़ी परेशानी होती है। इसलिए जब मैंने विश्व के प्रसिद्ध साहित्यकार बर्नार्ड शा की 'The Intelligent Woman's Guide to Socialism and Capitalism' नामक पुस्तक पढ़ी तो मुझे लगा कि उन्होंने इस विषय को अत्यन्त सरल रूप में हमारे सामने पेश किया है और यदि उन विचारों को भारतीय पाठकों के सामने लाया जाय तो एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। इस पुस्तक द्वारा मैं अपनी इसी कल्पना को व्यावहारिक रूप दे रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि पूँजीवाद और समाजवाद के बारे में पाठक इस पुस्तक द्वारा यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

अजमेर, —शोभालाल गुप्त

(तिलक पुण्यतिथि)

१ अगस्त १९४०.

विषय-सूची

खण्ड पहला : समाजवाद

खण्ड दूसरा : पूँजीवाद

खण्ड तीसरा : बदलें कैसे ?

समाजवाद : पूंजीवाद

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं
को सप्रेम भेंट -

खण्ड पहला : समाजवाद

: १ :

फिर विचार करें !

कुछ ही पीढ़ियों में ऐसे-ऐसे नवीन परिवर्तन हो गये हैं जिनका पहले किसी को गुमान भी नहीं होता था। आज जाति-पाँति तोड़ कर विवाह और विधवा विवाह होते हैं, ऊँच और नीच का भेद-भाव मिट रहा है, जहाज़ों में बैठ कर समुद्र पार की यात्रा की जाती है, कुछ ही दिन में रेलों द्वारा चारों धाम की यात्रा हो जाती है, बड़े-बड़े कारख़ानों में लाखों मज़दूर काम करते हैं और भीमकाय मशीनों द्वारा एक दिन में ही इतनी उत्पत्ति कर लेते हैं जितनी हाथों से महीनों में भी नहीं हो सकती और स्त्रियाँ पर्दा छोड़ कर कौंसिलों में जाती हैं और वकालत करती हैं। ये बातें हमारी समाज-व्यवस्था की स्वाभाविक अँग बनती जा रही हैं। हम समझने लगे हैं कि हमेशा से ऐसा ही होता आया है और आगे भी होता रहेगा, किन्तु यदि यही बातें हमारे दादा परदादाओं से कही जातीं तो वे कहने वालों को अवश्य पागल समझते।

हम सब लोग दुनिया में बिना खाये, पिये और पहिने नहीं रह सकते, इसलिए हमें सभी को यह फ़िक्र तो रहती ही है कि हम जैसे भी हो वैसे, जहाँ से भी हो वहाँ से, इतना धन तो पैदा कर ही लें कि हमारा आराम से गुज़र हो जाय। हाँ, कुछ लोग ऐसे ज़रूर हैं जिनके पास उनके पूर्वजों की संगृहीत या स्वयं उपार्जित इतनी सम्पत्ति है कि उन्हें अपने निर्वाह की अधिक चिंता नहीं है या कुछ को बिल्कुल नहीं है; किन्तु ज्यादातर लोग तो ऐसे ही हैं जिन्हें न तो भरपेट उचित खाना ही मिलता है, न पहिनने को काफ़ी कपड़े और न रहने को सादी और छोटी झोंपड़ी ही। यह सब देखने में भी कष्टकर है! जब सभी लोगों को खाने, पीने, पहिनने और रहने की समान ज़रूरत है तो फिर क्या कारण है कि हर एक की आवश्यकता समान रूप से पूरी नहीं होती? आय की

इस विषमता से दुनिया दुखी है। समाजवाद उसके इस दुख को दूर करने का उपाय बताता है। वह कहता है कि हमको राष्ट्र की सम्पत्ति इस प्रकार बांटनी चाहिए कि जिससे सब लोग समान रूप से सुखी रह सकें।

आप कहेंगे कि सम्पत्ति के विभाजन के सम्बन्ध में हमें सोचने की क्या ज़रूरत है? क़ानून जो है! हर एक व्यक्ति को वर्ष भर में उत्पन्न हुई सम्पत्ति का कितना हिस्सा मिलना चाहिए, यह कुछ तो हमारी परम्परागत रीति-रिवाजों से तय होता आ रहा है और जहाँ झगड़ा होता है वहाँ क़ानून हमारी मदद करने को तैयार रहता है।

किन्तु हमारा कहना यह है कि अबतक आय के विभाजन के सम्बन्ध में जो निर्णय हुआ है वह सब के लिए सन्तोषप्रद नहीं है, इसलिए इस प्रश्न पर फिर विचार करने की ज़रूरत है। हमें अपने दिमाग़ों में से यह ख़याल निकाल देना चाहिए कि हमारे वर्तमान रीति-रिवाज़, जिनमें आय को विभाजित करने और लोगों को वस्तुओं के मालिक बना देने के हमारे क़ानूनी तरीके भी शामिल हैं, ऋतुओं की भांति स्वाभाविक हैं। वास्तव में बात ऐसी नहीं है। हमारी छोटी-सी दुनिया में सर्वत्र उन कानून-क़ायदों का अस्तित्व है, इसलिए हम यह मान बैठते हैं कि उनका सदा अस्तित्व रहा है, आगे भी रहेगा और यह कि वे स्वाभाविक हैं। यह हमारी भयंकर भूल है। वास्तव में वे अस्थायी और तात्कालिक उपाय हैं; और यदि पास में पुलिस और जेल न हों तो उनमें से कितनों ही का सदाशयी लोग भी पालन न करेंगे। हम उनसे सन्तुष्ट नहीं हैं; इसीलिए सभी देशों में धारा-सभाओं द्वारा उनमें लगातार हेर-फेर किया जा रहा है। कभी पुरानों के बजाय नए क़ानून बनाए जाते हैं, कभी उनमें संशोधन किए जाते हैं, और कभी-कभी बेहूदा समझ कर बिल्कुल ही रद्द कर दिए जाते हैं। नए क़ानूनों को उपयोगी बनाने के लिए, अथवा यदि न्यायाधीशों के लिए वे रुचिकर न हों तो उन्हें अनुपयोगी बनाने के लिए अदालतों में उनकी खींचातानी की जाती है। इस प्रकार रद्द करने, संशोधन करने और पुनर्निर्माण करने का कोई

अन्त नहीं है। जिन कामों की लोगों ने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की होगी उन्हीं को मजबूरन कराने के लिए नए क़ानून बनाए जाते हैं। कितने ही पुराने क़ानूनों को इसलिए रद्द कर दिया जाता है ताकि लोगों को उन कामों के करने की आज़ादी मिल जाय जिनके लिए वे पहले दण्डित किए जाते थे। जो क़ानून रद्द नहीं किए जाते उनमें इतने संशोधन किए जाते हैं कि उनके प्रारम्भिक स्वरूप का शायद ही कोई चिह्न बच रहता है। चुनाव के समय कितने ही उम्मीदवार तो यह कह कर लोगों से मत प्राप्त करते हैं कि हम अमुक नए क़ानून बनाएंगे और अमुक पुरानों को रद्द कर देंगे। कुछ यह भी कहते हैं कि हम मौजूदा स्थिति को क़ायम रक्खेंगे। किन्तु यह असम्भव है। मौजूदा स्थिति क़ायम नहीं रह सकती।

इसलिए जब हम यह अध्ययन करने लगें कि वह सम्पत्ति जिसे हम प्रतिवर्ष उत्पन्न करते हैं हमारे बीच में कैसे बाँटी जाय तब हमें बच्चों की तरह न तो यह सोचना चाहिए कि इस समय जैसा है वह स्वाभाविक है, हमेशा था और आगे भी रहेगा और न दादा-परदादाओं की तरह से यही ख़याल करना चाहिए कि इसमें परिवर्तन होने का ख़याल करना पागलपन है। हम को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि धारा-सभाओं के अधिवेशन होते रहते हैं और सम्पत्ति के हमारे हिस्सों में भी एक या दूसरे स्थान पर नित्य ही परिवर्तन होता रहता है। जिस प्रकार उन्नीसवीं सदी और इस समय की साम्पत्तिक स्थिति में इतना अन्तर है कि जिसकी बहादुरशाह ने कल्पना भी नहीं की होगी, ठीक उसी प्रकार सम्पत्ति का जितना भाग आज हमारे पास है वह हमारे जीवन-काल में ही कम या अधिक हो जायगा। सम्पत्ति का हमारा वर्तमान विभाजन यदि हमें स्थायी मालूम पड़े तो हमें समझना चाहिए कि हमारी बुद्धि मारी गई है। हमारे क़ानूनों में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन का यह फल होता है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से किसी की जेब में से पैसा निकल कर दूसरों की जेबों में चला जाता है। हमारी विनिमय की दर में घटा-बढ़ी होने से किसानों की आय में तुरन्त घटा-बढ़ी हो जाती है।

तो इससे हमें यह समझ लेना चाहिए कि जो कुछ हमारी पुरानी प्रथाओं के अनुसार या वर्तमान क़ानून-क़ायदों के अनुसार हमारे हिस्सों में आया हुआ है उस में परिवर्तन होगा। ये पुरानी प्रथाएं और क़ायदे-क़ानून ही जब अस्थायी हैं तो फिर इन के अनुसार होने वाला आय का हमारा विभाजन कैसे स्थायी हो सकता है, विशेषकर उस दशा में जब हम उससे सन्तुष्ट भी नहीं हैं? इसलिए हमारा इस प्रश्न पर फिर विचार करने का दर्वाज़ा हमें खुला ही समझ कर चलना चाहिए।

जब कानून-क़ायदों के परिवर्तन से हमारी आय में घटा-बढ़ी होती है और आगे भी होगी तो अब हमें यह मालूम करना चाहिए कि वे कौन से परिवर्तन हैं जो दुनिया को निवास करने के लिए श्रेष्ठतर स्थान बना देंगे। साथ ही हमें यह भी तय करना चाहिए कि ऐसे कौन से परिवर्तन हैं जो हमारे लिए या दूसरों के लिए घातक हैं और जिनका हम को प्रतिरोध करना चाहिए। इस तरह हम किसी निर्णय पर पहुँच जाएँगे और वह लोकमत के रूप में एक प्रेरक शक्ति बन जाएगा जो किसी भी आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए आवश्यक होती है।

किन्तु कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के लिए नहीं सोच सकता, जैसे एक व्यक्ति दूसरे के लिए खा नहीं सकता। हर एक को अपने विचार स्वतन्त्र बनाने की ज़रूरत है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें अन्य सब लोगों के विचारों की ओर से आँखें मूँद लेनी चाहिएं। ऐसी कितनी ही बातें होती हैं जिनमें दूसरों की सम्मतियों पर निर्भर रहना होता है। अतः दूसरे लोगों ने जो कुछ सोचा है हमें उससे भी लाभ उठाना चाहिए।

हर एक आदमी को ख़ुद सोचने की ज़रूरत इसलिए है कि वास्तव में निर्णीत प्रश्न कभी निर्णीत नहीं होते। उनके उत्तर सदा अधूरे और पूर्ण सत्य से दूर होते हैं। हम नियमों और संस्थाओं का निर्माण करते हैं इसलिए कि उनके बिना हम समाज में नहीं रह सकते; किन्तु चूँकि हम स्वयं अपूर्ण हैं, इसलिए हम उन संस्थाओं को पूर्ण नहीं बना पाते। यदि हम पूर्ण संस्थाओं का निर्माण कर भी लें तो उन्हें नित्य और

सार्वत्रिक नहीं बना सकते। कारण, परिस्थितियों बदलती रहती हैं। इस प्रकार हम जब स्थायी क़ानून नहीं बना सकते तो उनसे सम्बन्धित प्रश्नों का हल भी स्थायी नहीं निकल सकता।

हम कह सकते हैं कि हमें तो इस स्थिति में युग बीत गए! यह सच है, किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि जिन प्रश्नों पर लोगों का ध्यान कभी युगों तक नहीं जाता, वे लोगों के सामने यकायक भूकम्प की तरह आ खडे होते हैं और उन पर उन्हें विचार करना ही होता है। सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न एक ऐसा ही प्रश्न है। वह युगों के बाद यकायक लोगों के सामने आया है। इसलिए उस पर फिर विचार करना ही होगा।

जब हम यह कहते हैं कि लोगों का ध्यान इन प्रश्नों की ओर युगों से नहीं गया तब हम को यह नहीं भूल जाना चाहिए कि विचारशील लोगों का ध्यान इस ओर सदा गया है। पश्चिम में ऐसे लोग हुए हैं जिन्होंने लोगों को धनी और ग़रीब, आलसी और अतिश्रमी इन दो भागों में विभक्त करने का विरोध किया है। उन लोगों का वह अरण्य-रोदन ही था। मामूली लोगों ने उसे तब सुना जब यूरोप की धारासभाओं में साधारण राजनीतिज्ञों ने चिल्ला-चिल्ला कर कहा कि सम्पत्ति का वर्तमान विभाजन इतना विषम, भीषण, हास्यास्पद, असहनीय और दुष्टतापूर्ण है कि उसमें भारी परिवर्तन किए बिना सभ्यता को नाश से नहीं बचाया जा सकता।

इसलिए सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न अत्यावश्यक और अभी तक अनिर्णीत है। इस पर हमें फिर विचार करना चाहिए।

: २ :

विभाजन कैसे करें ?

देश में सम्पत्ति हर साल पैदा होती है और हम उसी से जीवित रहते हैं। रुपया वास्तव में सम्पत्ति नहीं है। वह तो सोने, चांदी, तांबे या काग़ज़ का टुकड़ा मात्र है। उसके द्वारा आदमी को अमुक परिमाण

में अन्न, वस्त्र आदि, जो भी वह चाहे, ख़रीदने का क़ानूनी हक़ मिल जाता है। हम रुपये को खा नहीं सकते और न पी या पहिन ही सकते हैं। अतः वास्तविक सम्पत्ति तो वे चीज़ें ही हैं जिन पर हम निर्वाह करते हैं और जो हर साल पैदा होती हैं। यदि यह असली सम्पत्ति हर साल पैदा न की जाय तो कोई भी जाति जीवित न रह सकेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि समस्त जाति, जबतक वह जीवित है, कमा कर खावे। इस प्रकार जो कुछ भी कमाया जाय उसे सब लोगों में इस तरह से बांट देना चाहिए कि हर एक को उसका न्यायानुमोदित भाग प्राप्त हो जाय। यही साम्यवाद है। किन्तु सवाल तो यह है कि न्यायानुसार उसमें से हर एक को कितना धन मिले और किन शर्तों पर उसको उस पर अधिकार रखने दिया जाय? यह नियम बनाया जा सकता है कि जो काम न करे, उसको खाने को भी न मिले। किन्तु उस दशा में बच्चों का क्या हो? यदि उनको न खिलाया जाय तो दुनिया में मनुष्य-जाति नष्ट ही हो जायगी; अतः इस नियम से काम न चलेगा।

एक विधवा है जो कड़ी मेहनत करती है और जिसके छः बच्चे हैं। वह अपना और उनका आधा पेट मुश्किल से भर पाती है। किन्तु दूसरी ओर एक आलसी और इन्द्रियासक्त धनी युवक है जो खान-पान, सवारी-सिनेमा और विलासिता में एक दिन में ही इतना ख़र्च कर डालता है जितना कि छः मज़दूर परिवारों के लिए एक महीने तक काफ़ी हो सकता है। क्या यह सम्पत्ति के विभाजन का बुद्धि-संगत तरीक़ा है? क्या यह अधिक अच्छा न होगा कि विधवा को अधिक और इन्द्रियासक्त युवक को कम दिया जाय? इन प्रश्नों का निर्णय ख़ुद नहीं हो जाता। क़ानून के द्वारा हमको उनका फ़ैसला करना पड़ेगा। यदि विधवा युवक के हिस्से का कोई पदार्थ ले ले तो पुलिस उसको जेलखाने भेज देगी और उसके बच्चे भूखे मारे-मारे फिरेंगे या किसी अनाथालय की शरण लेंगे। यह क्यों होगा? इसलिए कि वर्तमान क़ानून के अनुसार, उसके हिस्से में अधिक सम्पत्ति नहीं आई। अधिकतर लोगों को जब यह मालूम हो जाता है तो वे सोचते हैं कि क़ानून बदला जाना चाहिए।

आज हमारे देश में अनेकों ऐसी विधवायें हैं जो चक्की पीस कर सूखे टुकड़ों पर और चिथड़ों में अपने दिन काटती हैं! अगणित लोग दिन भर श्रम करने के बाद भी मुश्किल से आधा पेट खाना पाते हैं; किंतु दूसरी ओर मालदार घरानों की सेठानियां सोने से लदी हुई हवेलियों में बिना कुछ काम-धन्धा किये बैठी रहती हैं। उनके बच्चों के विवाह-शादियों में हज़ारों रुपये ख़र्च होते हैं। जब लोग यह सब देखते हैं तो वे कहते हैं कि ऐसा विभाजन भीषण अन्याय है, दुष्टता है और मूर्खता है।

धनियों के अलावा, जिनकी संख्या बहुत थोड़ी है, सभी अच्छा विभाजन चाहते हैं। उनमें से भी ऐसे सहृदय कितने ही हैं जो इस स्थिति की बुराई को स्वीकार करते हैं। अतः हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि सम्पत्ति के वर्तमान विभाजन के सम्बन्ध में लोगों में आम असंतोष है।

रुपया काग़ज़ या धातु का एक टुकड़ा मात्र है, यह सही है; किन्तु इसमें वर्तमान क़ानून के कारण असली सम्पत्ति के ख़रीदने की शक्ति है, इसलिए जब हम धनी लोगों की फ़िज़ूलख़र्चियों की चर्चा करते हैं तो हमें यह मालूम होता है कि वे धातु या काग़ज़ के इन टुकड़ों के रूप में देश की असली सम्पत्ति को ही बर्बाद करते हैं। इससे हमें रोष भी आता है। हम कहने लगते हैं कि देश की आय में से सेठ रघुमलजी को तो ६००० रुपये रोज़ मिलते हैं और फत्ता जाट को जो खेती करता है केवल छः पैसे। बेचारा सूखी रोटियाँ भी नहीं खा पाता। उसके फटे कुर्ते में से उसकी नङ्गी हड्डियाँ नज़र आती हैं। यह भीषण अन्याय है। इतना कहने भर से काम नहीं चल सकता। हमें ठीक-ठीक सोचना होगा कि देश की आय में से सेठ रघुमलजी को कितना और फत्ता जाट को कितना मिलना चाहिए, और क्योंकि रुपयों से ही चीज़ें ख़रीदी जाती हैं इसलिए हमें असली सम्पत्ति अन्न, वस्त्र आदि का उचित बंटवारा करने के लिए रुपए को ही उचित रूप से बाँटना चाहिए।

किन्तु जब हम सम्पत्ति को बाँटने की बात कहते हैं तो हम को यह ज़रूर ध्यान में रखना चाहिए कि सम्पत्ति श्रम से पैदा होती है। इसे भी

तो बाँटना चाहिए। पहिले काम होगा तभी तो हमारे पास सम्पत्ति होगी। यदि किसान श्रम न करें तो हम क्या खाएंगे? उन टापुओं की बात जाने दीजिए जिनमें स्त्री-पुरुष धूप में पड़े रहते हैं और बन्दरों द्वारा तोड़ कर नीचे डाले हुए नारियलों पर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। किन्तु जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ यदि हम लोग नित्य श्रम न करें तो भूखे मर जाएंगे। एक व्यक्ति आलसी होगा तो वह अपने हिस्से का श्रम अन्य किसी से कराएगा। यदि दोनों में से कोई भी श्रम न करेगा तो दोनों ही भूखों मरेंगे। प्रकृति ने हम पर श्रम करने का भार डाला है; इसलिए हमें सम्पत्ति की तरह श्रम का भी विभाजन करना पड़ेगा।

किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सम्पत्ति और श्रम का विभाजन एक-सा हो। एक व्यक्ति अपनी निजी आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक कमा सकता है अन्यथा नाबालिग़ बच्चों को नहीं खिलाया जा सकता और जो वृद्ध और रोगी काम नहीं कर सकते वे भूखे मर सकते हैं। इस यंत्र-युग में श्रम का अच्छा संगठन करके एक व्यक्ति पहले की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक पैदा कर सकता है, इसलिए वह अपने श्रम से कई श्रम करने में असमर्थ व्यक्तियों का निर्वाह आसानी से कर सकता है।

यंत्रों का प्राकृतिक शक्तियों जैसे वायु, जल और कोयलों में रहने वाली गर्मी के साथ संयोग करने से जो श्रम बचता है उससे मनुष्यों को अवकाश प्राप्त होता है। हमें इस अवकाश का भी विभाजन करना पड़ेगा। यदि एक आदमी दस घन्टे श्रम करके दस आदमियों का निर्वाह कर सकता है तो वे दसों आदमी इस अवकाश को कई तरह से विभाजित कर सकते हैं। वे एक आदमी से दस घंटे काम लेकर शेष नौ को बिना श्रम भोजन, वस्त्र और पूरा आराम दे सकते हैं अथवा हर एक एक घंटा रोज़ काम करके नौ घंटे अवकाश पा सकता है। वे ऐसा भी कर सकते हैं कि तीन आदमी काम करें और तीस के लिये निर्वाह सामग्री पैदा कर दें, ताकि अन्य सातों को कुछ भी न करना पड़े। वे चौदह जितना खा सकें; तेरह नौकरों को खिला सकें और शेष तीन को काम पर लगाये रख सकें।

दूसरी व्यवस्था यह भी सम्भव हो सकती है कि वे सब जितना आवश्यक हो उससे नित्य अधिक काम करें, इस शर्त के साथ कि वे जबतक जवान न हो जायें और पढ़-लिख न जायँ उन्हें काम न करना पड़ेगा और पचास वर्ष की अवस्था हो जाने के बाद वे काम बंद कर शेष जीवन आराम में बिता सकेंगे। इस प्रकार श्रम, अवकाश और सम्पत्ति के न्याय विभाजन और पूर्ण दासता के बीच बीसियों तरह की भिन्न-भिन्न व्यवस्थायें हो सकती हैं। दास-प्रथा, ज़मींदारी प्रथा, पूँजीवाद, समाजवाद आदि सभी मूल में सम्पत्ति-विभाजन की भिन्न-भिन्न योजनाएँ हैं। इन प्रचलित विभाजन-प्रथाओं को अपने हित में बदलने के लिए उनसे असंतुष्ट व्यक्तियों और वर्गों ने घोर संघर्ष किये हैं जिन्हें हम क्रान्तियाँ कहते हैं।

सम्पत्ति-विभाजन के प्रश्न को हल करने के लिए कई योजनाएँ सामने आई हैं। यूरोप में ईसाई देवदूतों और उनके अनुयायियों ने एक कौटुम्बिक योजना का प्रचार किया था। उसके अनुसार उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी सारी सम्पत्ति एक संयुक्त भंडार में डाल देता था और अपनी आवश्यकतानुसार उसमें से लेता रहता था। छोटी-छोटी धार्मिक जातियों में, जहाँ लोग साथ-साथ रहते हैं और एक दूसरे को जानते हैं, उस पर आज भी अमल किया जाता है। वे कुटुम्ब में इसका आंशिक ही पालन करते हैं। जो कुछ कमाते हैं उसका कुछ हिस्सा वे अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रख लेते हैं और शेष कुटुम्ब के ख़र्च के लिए दे देते हैं। अत. कुटुम्ब में भी शुद्ध साम्यवाद नहीं होता।

इस कौटुम्बिक साम्यवाद का पड़ोस में ही रहने वाले लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। हर एक घर में अलग खाना बनता है। दूसरे उसके लिए ख़र्च नहीं उठाते और न उनको उसमें हिस्सेदार बनने का ही हक़ होता है। आधुनिक नगरों में पानी अवश्य सब लोगों को साम्य-वादी पद्धति से ही मिलता है। हर एक घर में पानी पहुँच सके इसके लिए सभी लोग सामुदायिक कोष में जल-कर के नाम से पैसा जमा कराते हैं

और अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार कम या ज़्यादा पानी लेते हैं।

इसी तरह सड़कें बनाने, उन पर रोशनी करने, पुलिस के सिपाहियों के गश्त लगाने, नदियों पर पुल बाँधने, कूड़ा-कर्कट हटाने आदि कामों के लिए लोग पैसा देते हैं। कोई यह नहीं कहता कि 'मैं रात में कभी सड़क पर नहीं जाता, मैंने पुलिस से अपने जीवन में कभी सहायता नहीं ली, नदी के उस पार मुझे कोई काम नहीं है और न मैं कभी पुल पर से गया ही हूं, इसलिए मैं इन चीज़ों के ख़र्च के लिए कुछ नहीं दूंगा।' हर एक आदमी को मालूम है कि बिना रोशनी, सड़कों, पुलों, पुलिस और सफ़ाई के नगरों का काम नहीं चल सकता। सभी लोगों को इन सार्वजनिक सेवा-साधनों से लाभ पहुंचता है। जो बात पुलिस के सम्बन्ध में, वही राष्ट्रीय सेना के सम्बन्ध में, म्यूनिसिपल भवनों और कौंसिलों तथा असेम्बली के भवनों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इन सभी का ख़र्च सार्वजनिक कोष से दिया जाता है, जिसे हम भिन्न-भिन्न प्रकार के कर दे कर भरते हैं, इसलिए इन सभी का साम्यवादी रूप है। इनसे सम्पत्ति का विभाजन सर्व-हित की दृष्टि से होता है।

इस साम्यवाद को क़ायम रखने के लिए जब हम कर देते हैं तो हम सार्वजनिक कोष में अपना सर्वस्व नहीं दे डालते, अपनी शक्ति के अनुसार देते हैं, जिसका अनुमान हमारी चल-अचल सम्पत्ति से किया जाता है। इस प्रकार कुछ बहुत कम देते हैं और कुछ बहुत अधिक; किन्तु लाभ सब समान ही उठाते हैं। अजनबी और बेघर वाले देते कुछ नहीं; किन्तु लाभ उतना ही उठाते हैं। जवान और बूढ़े, राजा और रंक, धर्मात्मा और दुरात्मा, काले और गोरे, मितव्ययी और ख़र्चीले, शराबी और समझदार, भिखारी और चोर, सब इन साम्यवादी सुभीतों और साधनों का, जिन पर इतना ख़र्च होता है, समान उपयोग करते हैं।

हम जब पुलों से नदी पार करते हैं तो हमें ऐसा लगता है मानो ये क़ुदरती हैं। जब सड़क पर चलते हैं तो भी हमें यह भान नहीं होता कि उस पर हमने कुछ ख़र्च किया है; किन्तु यदि पुलों को टूट जाने दिया जाय और हमें तैर कर या नाव के सहारे नदी को पार करना पड़े तो हमें

साम्यवाद की उपयोगिता का पता लग जायगा। यदि सड़कों की जगह कच्चा रेतीला रास्ता ही रहने दिया जाय तो हमारी तांगा, बग्घी आदि सवारियाँ और बोझा ढोने वाली बैलगाड़ियाँ हमें बड़ी कष्टकर प्रतीत होंगी। तब हमको मालूम हो जायगा कि साम्यवाद वास्तव में एक सुविधाजनक व्यवस्था है। साम्यवादी व्यवस्था के अनुसार ख़र्च की हुई सम्पत्ति से सभी लोगों को समान सुख मिलता है।

पुल की तरह जिस चीज़ का व्यवहार हर एक आदमी करता है हम राष्ट्रीय सम्पत्ति में से उसी की व्यवस्था कर सकते हैं; या जिससे हर एक को लाभ पहुँचे वही चीज़ सामाजिक सम्पत्ति बनाई जा सकती है। पानी की तरह हम शराब का ऐसा प्रबन्ध नहीं कर सकते कि उसे शराबी जितनी चाहें उतनी पा सकें। ऐसी शरीर और मस्तिष्क को बिगाड़ देने वाली और बुराइयों को जन्म देने वाली चीज़ के लिए तो लोग कर न दे कर जेल जाना पसन्द करेंगे। इसलिए जिस चीज़ को सब काम में नहीं लेते या जिसको सब पसन्द नहीं करते उसे समाज की सम्पत्ति बनाने से तो झगड़े ही उठेंगे।

लोग बाग़ों, तालाबों, खेल के मैदानों, पुस्तकालयों, चित्रशालाओं, अन्वेषणालयों, प्रयोगशालाओं और अजायबघरों के लिए कर दे सकते हैं; क्योंकि वे इन्हें उपयोगी और सभ्यता के लिए आवश्यक समझते हैं।

चीज़ों का इतना विभाजन कुछ तो कौटुम्बिक साम्यवाद द्वारा और कुछ सड़कों, पुलों आदि विषयक कर-दाताओं के आधुनिक साम्यवाद द्वारा किया जा सकता है; किन्तु अधिकाँश बँटवारा हमें रुपये के रूप में ही करना पड़ेगा। क्योंकि रुपये से हम जो चाहें ख़रीद सकते हैं, दूसरों को नहीं सोचना पड़ता कि हमको क्या चाहिए।

दुनिया में रुपया एक अत्यन्त सुविधाजनक वस्तु है। उसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। कहते हैं कि रुपया सब बुराइयों की जड़ है; किन्तु यह उसका अपराध नहीं है कि कुछ लोग उसे मूर्खता या कंजूसीवश अपनी आत्माओं से भी अधिक प्यार करते हैं।

: ३ :

विभाजन की सात योजनायें

सम्पत्ति के विभाजन की सब से अच्छी योजना क्या है, यह मालूम करने के लिए हमको सभी सम्भव योजनाओं पर विचार कर लेना चाहिए।

पहली योजना

यह योजना बहुधा पेश की जाती है कि प्रत्येक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, सम्पत्ति का उतना भाग मिल जाया करे, जितना उसने अपने श्रम से पैदा किया हो। वैसे दिखने में यह योजना ठीक प्रतीत होती है; किन्तु जब हम इसको व्यावहारिक रूप देने लगते हैं तो अनेक कठिनाइयाँ खड़ी हो जाती हैं। प्रथम तो यह मालूम करना ही कठिन होता है कि हर एक ने कितना पैदा किया। दूसरे ठोस पदार्थों का निर्माण ही दुनिया में एकमात्र काम नहीं है। समाज में अधिकतर काम सेवा के रूप में होता है।

एक पिन बनाने का कारखाना है। उसमें एक मशीन से लाखों पिनें तैयार होती हैं और सैकड़ों आदमी काम करते हैं। यह कोई नहीं कह सकता कि मशीन चलाने वाले व्यक्ति के श्रम से कितनी पिनें बनीं; कितनी पिनें मशीन के आविष्कारक को और कितनी मशीन के इञ्जीनियर को मिलनी चाहिएं। एकान्त जंगल में रहने वाला कह सकता है कि अपनी कुटिया मैंने खुद बनाई है। उसमें किसी दूसरे का श्रम नहीं लगा; किन्तु सभ्य समाज में रहने वाला कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि कुर्सी, मेज़, मोटर आदि जिन वस्तुओं का वह नित्य उपयोग करता है, वे उसके अकेले के श्रम से बनी हैं। वास्तव में उन चीज़ों के बनाने में उसके निजी श्रम के अलावा दर्जनों आदमियों का श्रम लगा होता है। ऐसी दशा में जो जितना पैदा करे, उसको उतना ही देने की कोशिश करना ठीक वैसा ही सिद्ध होगा जैसा किसी तालाब में से पानी की

उतनी ही बूँदें निकालने की कोशिश करना जितनी वर्षा के समय उसमें गिरी हों।

यह सम्भव हो सकता है कि हरएक को काम के घंटों के हिसाब से पैसा दे दिया जाय; किन्तु उस दशा में कुछ चार पैसे घन्टा माँगेंगे, कुछ चार रुपया घन्टा और कुछ चार सौ रुपया घन्टे में भी राज़ी न होंगे। ये भाव इस बात पर निर्भर रहते हैं कि काम करने वालों की संख्या कितनी है और वे ग़रीब हैं या धनी। जब मज़दूरों की संख्या अधिक होती है और उन्हें काम नहीं मिलता तो वे इतनी थोड़ी मज़दूरी पर काम करने को तैयार हो जाते हैं कि जिससे वे दो समय केवल अपना पेट भर सकें। कुछ स्थानों में तो नित्य की बेकारी के कारण साधारण मज़दूरी की दर इतनी थोड़ी रह गई है कि लोगों का पेट भी नहीं भरता। उदाहरण के लिए चार पैसे में हम एक मज़दूर से घंटा भर लकड़ी चिरवा सकते हैं अथवा एक मील बोझा उठवा सकते हैं। इसके विपरीत हमारा डाक्टर हम से एक घन्टे के चार रुपये मांग सकता है और एक बैरिस्टर एक घंटा पैरवी करने के लिए चार सौ रुपए में भी आनाकानी कर सकता है। हम डाक्टरों और बैरिस्टरों को इतना अधिक क्यों देते हैं? इसलिए कि ऐसे लोगों की संख्या कम होती है और दुनिया में ऐसे मरीज़ों और मुवक्किलों की कमी नहीं है जो उन्हें बड़ी-बड़ी रक़में देते रहते हैं। जो बड़ी रक़में नहीं दे पाते, उन्हें उनकी मदद भी नहीं मिलती। अर्थशास्त्र की भाषा में यह उत्पत्ति और माँग का नियम कहलाता है।

किन्तु इस नियम से जो परिणाम पैदा होते हैं, उनको हम वांछनीय नहीं कह सकते। यदि एक व्यक्ति को एक घंटे में सिर्फ चार पैसा मिले और दूसरे को चार सौ रुपया तो क्या सम्पत्ति का यह विभाजन उचित होगा, नैतिक होगा? पश्चिमी देशों में सुन्दर सुखाकृति और हाव-भाव वाला एक बालक, जो अभिनय कला में थोड़ी गति रखता हो, साधारण व्यवसाय में दिन-रात घिस-घिस करने वाले अपने बाप की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक कमा सकता है। आज कौन नहीं जानता

कि एक सुन्दर युवती पतिव्रता स्त्री की तुलना में दुराचरण द्वारा कहीं अधिक कमा सकती है ?

डाक्टर और बैरिस्टर जब सामान्य मजदूर की अपेक्षा अधिक पैसा माँगते हैं तो वे कह सकते हैं कि उनके एक-एक मिनट के पीछे उनकी वर्षों की मेहनत लगी हुई है। हरएक आदमी यह स्वीकार करेगा कि साधारण मजदूर और डाक्टर-बैरिस्टर की मजदूरियों में अन्तर रहता है; किन्तु यह कह सकना बड़ा कठिन है कि समय अथवा रुपये-पैसे के रूप में उस अन्तर का ठीक परिमाण क्या है और क्या होना चाहिए। इसी-लिए हमको उत्पत्ति और मांग के नियम का आश्रय लेना पडता है।

कुछ कामों का ठोस परिणाम निकलता है और कुछ का नहीं। उदाहरण के लिए किसी खाती ने जानवरों को खेत में जाने से रोकने के लिए लकड़ी का एक फाटक बनाया। यह उसकी मेहनत का ठोस फल हुआ, जिसको तबतक वह अपने कब्जे में रख सकता है जबतक उस को उसके बनाने की मजदूरी न मिल जाय। किन्तु वह देहाती लड़का, जो खेत पर पत्ती उडाने के लिए हल्ला किया करता है, अपने काम का ऐसा कोई परिणाम नहीं बता सकता; हालाँकि उसका काम खाती के काम जितना ही आवश्यक होता है। डाकिया कुछ नहीं बनाता, वह चिट्ठियाँ और पार्सलें बांटता है। पुलिस का सिपाही कोई चीज़ नहीं बनाता और सैनिक न केवल बनाता ही नहीं है, उल्टा पदार्थों को नष्ट करता है। डाक्टर, वकील, पुरोहित, धारा-सभाओं के सदस्य, नौकर, राजा-रानी और अभिनेता— ये सभी कौनसी ठोस चीज़ें बनाते हैं ? जब ये काम कर चुकते हैं तो उनके पास ऐसा कुछ नहीं होता, जिसे तोला या मापा जा सके और तदनुसार उनको मजदूरी दी जा सके। अतः यह स्पष्ट है कि हरएक अपने श्रम से जितना पैदा करे, उसको उतना देने की अथवा हरएक के समय का मूल्य रुपये, आने, पाई में आंकने की कोशिश करना बेकार है। उसमें हम सफल नहीं हो सकते।

कुछ लोगों का यह कहना है कि योग्यता के अनुसार सम्पत्ति का विभाजन होना चाहिए। उस दशा में आलसियों और दुष्टों को कुछ न

मिलेगा और वे नष्ट हो जायेंगे तथा जो कुछ सम्पत्ति होगी, वह भले, परिश्रमी और क्रियाशील लोगों को मिलेगी और वे फलें-फूलेंगे।

जो लोग आराम से रहते हैं, उन में से बहुत से समझते हैं कि आज-कल ऐसा ही होता है। उनकी यह धारणा रहती है कि परिश्रमी, समझदार और मितव्ययी लोगों को कभी अभाव का सामना नहीं करना पड़ता और आलसी, शराबखोर, जुएबाज, बेईमान और दुश्चरित्र कंगाल होते हैं। वे कह सकते हैं कि सदाचारी मज़दूर की अपेक्षा दुराचारी मज़दूर को काम प्राप्त करने में अधिक कठिनाई होती है; जो किसान या ज़मींदार जुआ खेलता है और अनाप-शनाप ख़र्च करता है उसकी ज़मीन हाथ से निकल जाती है और वह कंगाल हो जाता है तथा जो व्यापारी सुस्त होता है और अपने धन्धे की तरफ़ ध्यान नहीं देता, वह दिवालिया हो जाता है; किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन को जो कुछ मिलता है वह उनका योग्य हिस्सा होता है। इससे इतना ही पता चलता है कि कुछ कमज़ोरियों और बुराइयों के कारण मनुष्य दरिद्र हो जाता है। किन्तु साथ ही कुछ ऐसी बुराइयाँ भी हैं जिनके कारण मनुष्य धनी बन जाता है। कठोर, स्वार्थी, लालची, निर्दयी और अपने पड़ोसियों से लाभ उठाने के लिए सदा तत्पर रहने वाले लोग, यदि इतने बुद्धिमान हों कि अपने हाथों से अपने पाँवों पर कुल्हाड़ी न मारें तो, शीघ्र ही धनवान बन जाते हैं। इस के विपरीत ग़रीब घर में पैदा हुए उदारचेता, समाज-सेवी और मिलनसार लोग, जबतक उन में असाधारण प्रतिभा न हो, ग़रीब ही रहते हैं। इतना ही नहीं, आज जैसी स्थिति है, उस में कुछ ग़रीब ही पैदा होते हैं और कुछ सोने के पालने में जन्म लेते हैं। कहने का मतलब यह है कि वे चरित्र-निर्माण के पहले ही धनी और ग़रीब की श्रेणियों में बंट जाते हैं। यह स्पष्ट है कि आज योग्यतानुसार सम्पत्ति का विभाजन नहीं होता। इस समय आम हालत यह है कि थोड़े से आलसी बहुत मालदार हैं और अनेकों कठोर परिश्रम करने वाले अत्यन्त कंगाल हैं। भारतीय किसान, जिनको भर-पेट भोजन और तन ढंकने

दूसरी योजना

लायक़ काफ़ी कपड़ा भी नहीं मिलता और जो मिट्टी के मामूली कच्चे घरों और झोंपड़ियों में दिन बिताते हैं, वे उन दुकानदारों और धनवानों से अधिक चरित्रवान् हैं जो कुछ श्रम नहीं करते, खूब खाते, पहनते और बर्बाद करते हैं और ऊँची-ऊंची हवेलियों में रहते हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आज सम्पत्ति का विभाजन योग्यता के आधार पर नहीं होता है तो क्यों न ऐसी कोशिश करें जिससे भले आदमी धनी और बुरे आदमी दरिद्र हो जायें? किन्तु इसमें कई कठिनाइयां हैं। प्रथम तो किसी की योग्यता का मूल्य रुपयों में कैसे आंका जा सकता है? एक गांव है, जिसमें लुहार भी रहता है और पुजारी भी। योग्यता के अनुसार उन दोनों में हमको सम्पत्ति का विभाजन करना है। लुहार को पुजारी जितना दिया जाय या पुजारी से दूना या आधा या कितना कम या कितना अधिक? पुजारी का दावा है कि वह 'हनूमान चालीसा' का पाठ करके भूत-प्रेत को भगा सकता है; किन्तु लुहार के पास तो अपने धन के सिवा कुछ नहीं। हां, वह घोड़े की नाल अवश्य बना सकता है। यह काम पुजारी सात जन्म में भी नहीं कर सकता। तो सवाल यह है कि 'हनूमान चालीसा' की कितनी चौपाइयां घोड़े की एक नाल के बराबर मानी जायें! हम यह मालूम कर सकते हैं कि बाजार में सेर भर घी के बदले कितना अन्न मिल सकता है, किन्तु जब हम मानव प्राणियों का मूल्य आंकेंगे तो हमें मानना होगा कि ईश्वर के दरबार में उन सब का समान मूल्य है। उनकी योग्यता के अनुसार सम्पत्ति का बंटवारा करना मनुष्य की माप और निर्णय-शक्ति के बाहर की बात है।

तीसरी योजना

सम्पत्ति के विभाजन की तीसरी योजना उन लोगों की है जो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले उसी पुराने और सीधे-सादे नियम में विश्वास रखते हैं; किन्तु इस नियम की घोषणा आजकल क्वचित ही की जाती है। वे कहते हैं कि हरएक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार ले-ले; किन्तु इससे दुनिया में शान्ति और सुरक्षितता का नामोनिशान भी न रहेगा। यदि हम सब

चल और चालाकी में समान हों तो हमें समान अवसर मिल जाएँगे; किन्तु जिस दुनिया में बालक, वृद्ध और रोगी भी रहते हों और समान अवस्था तथा शक्ति वाले तन्दुरुस्त वयस्क लोग भी लालच और दुष्टता में एक-दूसरे से बहुत भिन्न हों उसमें यह योजना नहीं चल सकती। कुछ ही समय में हमें उससे हार माननी होगी। समुद्री लुटेरों और जंगली डाकुओं के दल तक लूट के माल के विभाजन के लिए धींगामस्ती के बजाय शान्ति-पूर्ण निर्धारित समझौते को पसन्द करते हैं।

हमारे सभ्य समाज में यद्यपि डकैती और हिंसा का निषेध है, फिर भी हम व्यवसाय को ऐसे सिद्धान्त पर चलने देते हैं जिसके अनुसार दूसरे का कुछ भी ख़याल किए बिना हर एक चाहे जितना नफ़ा कमा सकता है। एक दूकानदार या व्यापारी हमारी जेब भले ही न काटे; किन्तु वह अपनी चीज़ों की इच्छानुसार मनमानी क़ीमत ले सकता है। व्यवसाय में इस बात की स्वतन्त्रता मिली हुई है कि वह जिस हद तक ग्राहक को राज़ी कर सके उस हद तक अपने रुपए के बदले अधिक ले सकता है या कम दे सकता है। मकानों की क़ीमत अथवा किरायेदारों की दरिद्रता का कुछ भी ख़याल किये बिना मकानों का किराया चढ़ाया जा सकता है। दुनिया की उद्योग-धन्धों में आगे बढ़ी हुई जातियाँ अपनी तैयार चीज़ें उद्योग-धन्धों में पिछड़ी हुई जातियों पर थोप कर मालदार हो सकती हैं।

चौथी योजना

सम्पत्ति के विभाजन की चौथी योजना यह है कि केवल कुछ लोगों को बिना कुछ परिश्रम कराये धनी बना दिया जाय और बाक़ी सब से ख़ूब मेहनत कराई जाय। उनके परिश्रम से जो पैदा हो उसमें से उन्हें केवल इतनी मज़दूरी दी जाय कि वे जीवित भर रह सकें और मरने या बुड्ढे होने के बाद ग़ुलामी करने के लिए बाल-बच्चे पैदा कर जायँ। मोटे तौर पर आजकल यही होता है। दस प्रतिशत लोग देश की ९० प्रतिशत सम्पत्ति पर अधिकार जमाये हुए हैं। शेष ९० प्रतिशत में से अधिकांश के पास कोई सम्पत्ति नहीं है। वे अत्यंत अल्प मज़दूरी पर कंगाली की हालत में

जीवन निर्वाह करते हैं। इस योजना का यह लाभ बतलाया जाता है कि वह उनके बीच में धनिकों का एक वर्ग पैदा कर देती है जो ख़र्चीली शिक्षा द्वारा अपने को सुसंस्कृत बना लेता है और उससे ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि देश पर शासन कर सके; क़ानून बना कर उनकी रक्षा कर सके; राष्ट्र की रक्षा के लिए सेना संगठित कर उसका संचालन कर सके; विद्या, विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन, धर्म और उन सब चीज़ों को जो महान् सभ्यता और ग्रामीण जीवन के अन्तर को स्पष्ट करती हैं, संरक्षण देकर जीवित रख सके; विशाल भवन निर्माण करा सके; भड़कीली पोशाकें पहिन सके; गंवारों पर रौब गाँठ सके और सभ्यता तथा शौक़ीनी के जीवन का उदाहरण पेश कर सके। जैसा कि व्यवसायी ख़याल करते हैं, सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि वे आवश्यकता से अधिक देकर उन्हें बड़ी मात्रा में अतिरिक्त रुपया बचाने का अवसर देते हैं। इसी रुपये को पूँजी कहते हैं।

यह योजना, जिसे अल्प जन-सत्तावाद कहते हैं, समाज को भद्र और साधारण दो भागों में विभक्त करती है। भद्र लोग सम्पत्ति पर और साधारण लोग श्रम पर जीवन-निर्वाह करते हैं। यह कुछ को धनी और बहुतों को कंगाल बना देने वाली योजना है, जो दीर्घकाल से चली आई है और अब भी चल रही है। यह स्पष्ट है कि यदि धनिकों की आमदनी छीन कर ग़रीबों में बाँट दी जाय तो भी उनकी ग़रीबी में विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा; किन्तु इससे पूँजी का मिलना बन्द हो जायगा, कारण फिर कोई कुछ भी बचा न पायगा। धनिकों की ग्रामीण अट्टालिकाओं की *हालत बिगड़ जायगी और विज्ञान, कला, साहित्य तथा सारी संस्कृति का* लोप हो जायगा। यही कारण है कि इतने अधिक लोग वर्तमान पद्धति का समर्थन करते हैं और स्वयं कंगाल होते हुए भी धनिक वर्ग का साथ देते है।

किंतु इस योजना से भयंकर बुराइयाँ पैदा होती हैं। ये भद्र लोग उन कामों को नहीं करते जिनको करने के लिए उन्हें बड़ा बनाया गया था। उद्देश्य श्रेष्ठ होते हुए भी वे देश का शासन बुरी तरह

से करते हैं, कारण वे जन-साधारण से इतने अलग रहते हैं कि उनकी आवश्यकताओं को समझते ही नहीं। वे जन-साधारण को और भी कठिन परिश्रम करने और कम वेतन स्वीकार करने के लिए मजबूर करते हैं। वे खेलों, दावतों और तडक-भड़क पर रुपयों के दरिया बहा देते हैं और विज्ञान, कला और शिक्षा पर बहुत कम ख़र्च करते हैं। वे उत्पादक श्रम के बजाय व्यर्थ के व्यक्तिगत कामों में अपव्यय करते हैं और बड़े परिमाण में दरिद्रता को जन्म देते हैं। वे सैनिक कर्तव्यों से जी चुराते हैं या सेना को देश में अत्याचार करने और विदेशों में लोगों को ग़ुलाम बनाने का साधन बना लेते हैं। अपनी प्रशंसा की ख़ातिर तथा अपने दुष्कृत्यों पर परदा डालने के लिए वे विश्वविद्यालयों और स्कूलों की शिक्षा को भ्रष्ट कर देते हैं। धर्मसंस्थाओं के साथ भी वे ऐसा ही करते हैं। अपने अस्तित्व को और भी अनिवार्य सिद्ध करने के लिए वे जनसाधारण को दरिद्र, मूर्ख और पराधीन बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। अन्त में उनके कर्तव्य उनके हाथों से छीन लेने पड़ते हैं।

जब ऐसा होता है तो इस धनी वर्ग को क़ायम रखने के सांस्कृतिक और राजनीतिक सारे कारण ग़ायब हो जाते हैं। फिर भी दूसरों के हितों का बलिदान कर अत्यधिक धनियों का एक वर्ग बनाये रखने के पक्ष में एक कारण शेष रह जाता है। व्यवसायी उसको सब से प्रबल कारण समझते हैं। वह कारण यह है कि उससे पूंजी उपलब्ध होती है। वे कहते हैं कि यदि आय अधिक समान रूप से बाँटी जायगी तो सभी लोग अपनी सारी आय ख़र्च कर देंगे और यंत्रों, रेलों, खानों और कारखानों के लिए कुछ न बचेगा। अवश्य ही महान् सभ्यता के लिए रुपया बचाया जाना चाहिए; किन्तु उसके लिए प्रस्तुत पद्धति से बढ़ कर अपव्ययी पद्धति की कल्पना नहीं की ज़ा सकती। अत्यन्त मालदार लोगों के बारे में कहा जा सकता है कि जबतक ख़र्च करना सम्भव हो तबतक वे रुपया बचाना शुरू नहीं करते। वे निरंतर नवीन और महँगी फ़िज़ूल-ख़र्चियों का आविष्कार करते रहते हैं। इस तरह लोग उन्हें जो रुपया व्यवसाय आदि के लिए देते हैं उसका बड़ा भाग वे भोग-विलासों में

फूंक देते हैं। इस व्यवस्था के बजाय तो सरकारें अपनी आय का एक भाग पूंजी के तौर पर रख छोड़ने के लिए हमें मजबूर कर सकती हैं। वे बैंकों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना सकती हैं। व्यवसायों के लिए पूंजी जुटाने की समस्या का हल इस प्रकार अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है।

अब हम सम्पत्ति के विभाजन की पांचवीं योजना पर विचार करेंगे। इसके समर्थक कहते हैं कि समाज को श्रेणियों में विभक्त कर दिया जाय और विभिन्न श्रेणियों के बीच असमानता चाहे भले ही रहे; किन्तु एक श्रेणी में हरएक को बराबर मिले। उदाहरणार्थ साधारण मज़दूर को १५ रुपये मासिक, कुशल कारीगर को २५ या ३० रुपये मासिक, न्यायाधीशों को ५०० रुपये मासिक और मंत्रियों को ४ हज़ार रुपये मासिक वेतन दिया जाय।

पाँचवीं योजना

कहा जा सकता है कि आजकल भी तो ऐसा ही होता है। अवश्य ही बहुत बार ऐसा होता है; किन्तु ऐसा कोई क़ानून नहीं है कि अलग-अलग तरह का काम करने वालों को एक-दूसरे से कम या अधिक दिया जाय। इस तरह सोचने की हमारी आदत ही पड़ गई है कि अशिक्षित लोगों की अपेक्षा जो दैनिक मज़दूरी पर काम करते हैं, अध्यापकों, डाक्टरों और न्यायाधीशों को शिक्षित होने के कारण अधिक देना चाहिए; किंतु आजकल एक एंजिन-ड्राइवर. जो न तो भद्र पुरुष होने का दावा करता है और न जिसने कालेज की शिक्षा ही पाई होती है, कई अध्यापकों और कुछ डाक्टरों से अधिक कमाता है। इसके विपरीत कुछ अत्यंत प्रसिद्ध डाक्टरों को चालीस साल की अवस्था तक जीवन-निर्वाह के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता है। इसलिए हमको यह ग़लत ख़याल न बना लेना चाहिए कि शारीरिक शक्ति और स्वाभाविक चतुराई की अपेक्षा भद्रता और शिक्षा के लिए हमको आजकल अधिक देना चाहिए या हम हमेशा अधिक ही देते हैं। बहुत पढ़े-लिखे लोग बहुधा थोड़ा या कुछ नहीं कमा पाते और आजीविका-इच्छुक व्यक्ति के लिए कुलीनता सम्पत्ति के अभाव में सुविधा के बजाय बाधा सिद्ध हो सकती है। व्यापारिक जगत

में ऐसे आदमी बहुधा लखपति या करोड़पति हो जाते हैं जिनके पास कुलीनता या शिक्षा कुछ नहीं होती और सत्पुरुषों अथवा प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने भयंकर दरिद्रता में जीवन बिताया है और मरने के पहिले उनकी महानता को किसी ने जाना तक नहीं।

हमें इस ख़याल को भी धता बता देनी चाहिए कि कुछ काम करने वालों को दूसरों की अपेक्षा जीवन-निर्वाह के लिए अधिक ख़र्च करना पड़ता है। जितना भोजन-भत्ता एक मज़दूर को स्वस्थ रखने के लिए काफ़ी होगा उतना ही एक राजा के लिए भी काफ़ी होगा। बहुत से मज़दूर एक राजा की अपेक्षा बहुत ज़्यादा खाते-पीते हैं और उन सबके कपड़े भी तो बड़ी जल्दी फट जाते हैं। यदि हम राजा का भत्ता दूना कर दें तो वह न दूना खाने-पीने लगेगा और न दूनी निश्चिन्तता से सोयेगा।

यहाँ प्रश्न उठता है कि फिर हम कुछ को आवश्यकता से अधिक और कुछ को कम क्यों देते हैं? इसका उत्तर यह है कि हम बहुत करके उन्हें देते नहीं हैं। हमने व्यवस्था नहीं की कि हरएक को कितना मिले। भाग्य और शक्ति पर छोड़ दिया है, इसलिए उनको मिल जाता है। हाँ, राजा और दूसरे राज्याधिकारियों के लिए ज़रूर व्यवस्था की गई है कि उनको ख़ासी रक़म मिलनी चाहिए। कारण हम चाहते हैं कि उन का विशेष रूप से आदर-सम्मान हो; किन्तु अनुभव बताता है कि सत्ता आय के परिमाणानुसार नहीं है। पोप के बराबर यूरोप में और किसी का भय नहीं माना जाता; किंतु कोई भी पोप को धनी आदमी ख़याल नहीं करता। कभी-कभी तो उसके माता-पिता और भाई-बहिन बहुत विनम्र होते हैं और वह स्वयं अपने दर्ज़ी और पंसारी से भी ग़रीब होता है। जहाज़ का कप्तान प्रति-दिन ऐसे लोगों के साथ भोजन करने बैठता है जो उसके वेतन जितना रुपया पानी में फेंक दें और ज़रा भी चिंता न करें; किंतु उसकी सत्ता इतनी विस्तृत होती है कि घमण्डी-से-घमण्डी यात्री भी उसके साथ अभद्रतापूर्ण व्यवहार करने का साहस नहीं कर सकता। किसी फ़ौजी पल्टन का कप्तान भले ही ग़रीब-से-ग़रीब क्यों न हो और उसके हरएक अधीनस्थ की आमदनी उसकी अपेक्षा दूनी से

भी अधिक क्यों न हो; किंतु यह सब कुछ होने हुए भी अधिकार में वह उनका अफ़सर होता है। रुपया अधिकार या सत्ता की कुंजी नहीं है। हम में से जो लोग व्यक्तिगत सत्ता का उपभोग करते हैं उनको भी किसी तरह धनी नहीं कहा जा सकता। बढ़िया-बढ़िया मोटरगाड़ियों में फिरने वाले करोड़पति पुलिस के सिपाही की आज्ञा मानते हैं।

अवश्य ही धनिकों की शक्ति भी बहुत वास्तविक होती है। धनी आदमी अपने नौकरों में से जिस पर भी अप्रसन्न हो जाय उसको काम से अलग कर सकता है, यदि किसी व्यापारी का व्यवहार उसके प्रति सम्मानपूर्ण न हो तो वह उसका माल ख़रीदना बन्द कर दे सकता है; किंतु अपनी शक्ति द्वारा दूसरे को बर्बाद करने की सुविधा पा लेना बिल्कुल दूसरी बात है और समाज में क़ानून और व्यवस्था क़ायम रखने के लिए आवश्यक सत्ता का होना दूसरी बात है। हम उस डकैत की बात मान सकते हैं जो हमारे सीने पर पिस्तौल तान कर कहे कि 'या तो सीधे हाथ से रुपया रख दो, नहीं तो उड़ा दिए जाओगे।' इसी तरह हम उस ज़मींदार की आज्ञा भी मान सकते हैं जो कहे कि या तो अधिक लगान दो नहीं तो बाल-बच्चों सहित घर से निकल जाओ। किंतु यह सत्ता के आगे नहीं धमकी के आगे सर झुकाना हुआ। वास्तविक सत्ता का रुपए के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। वास्तव में उसका व्यवहार राजा से लेकर चौकीदार तक ऐसे लोगों द्वारा होता है जो अनेक शासित लोगों की अपेक्षा दरिद्र होते हैं।

अभी जैसा है वैसा ही रहने दिया जाय, यह सम्पत्ति-विभाजन की छठी योजना है। अधिकतर लोग इसके पक्ष में मत देते हैं। जिस बात के वे आदी हो गए है, उसको वे पसन्द न करते हों तो भी वे परिवर्तन से डरते हैं कि स्थिति कहीं और भी बुरी न हो जाय; किन्तु कोई भी समझदार आदमी यह न मानेगा कि उदासीन रह कर स्थिति यथावत रक्खी जा सकती है। यह तो बदलेगी, हमारे देखते-देखते ही बदल गई है और निरन्तर बदल रही है। दूसरे वह इतनी ख़राब है कि कोई भी आदमी, जो यह जानता

छठी योजना

है कि वह ख़राब है, उसको ज्यों-की-त्यों रहने देना स्वीकार न करेगा। जब स्थिति ज्यों-की-त्यों नहीं रहेगी, वह बदलेगी, तब उसकी तरफ से आँखें मूँद लेने से काम न चलेगा। इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि हम स्थिति को यों ही लुढ़कने न दें। रोक कर ठीक दिशा में चलाएँ। विचारपूर्वक सम्पत्ति का विभाजन करें। जैसा विभाजन इस समय हो रहा है वह ठीक नहीं है।

सम्पत्ति-विभाजन की सातवीं योजना साम्यवादी योजना है और वह यह है कि बिना इस बात का विचार किए कि अमुक आदमी कैसा है, उसकी कितनी उम्र है, किस तरह का काम करता है, कौन है, उसका पिता कौन था, हरएक को बराबर-बराबर हिस्सा दे दिया जाय। केवल यही योजना ठीक-ठीक काम देगी। सबसे सन्तोषजनक योजना यही है। विभाजन की पहेली का यही साम्यवादी हल है। समान आय में हमें भले ही सुन्दरता दिखाई न दे; किन्तु हम असमान आय के भयंकर दुष्परिणामों को देख सकते हैं। जिन बुराइयों से हमें नित्य संघर्ष करना पड़ता है वे असमान आय के कारण ही पैदा होती हैं। इसलिए हमें राष्ट्रीय सम्पत्ति का विभाजन सब में समान ही करना चाहिए।

सातवीं योजना

: ४ :

निर्धनता या धनिकता ?

कुछ साधु-सन्तों के अलावा हरएक आदमी यही कहेगा कि जो योजना दरिद्रता का नाश न कर सके वह ग्राह्य नहीं हो सकती। (उन लोगों की दरिद्रता भी मजबूरन नहीं, स्वेच्छा से ग्रहण की हुई होती है।) इसलिए सबसे पहिले थोड़ी देर के लिए हम दरिद्रता का ही विचार कर लें।

यह आम तौर पर माना जाता है कि ग़रीब लोगों के लिए दरिद्रता अत्यन्त कष्ट-दायक और अभिशाप रूप सिद्ध होती है; किन्तु ग़रीब लोग

जो कभी भूख और ठंड से पीड़ित न हों धनियों से अधिक दुखी नहीं होते। बहुधा वे सुखी ही अधिक होते हैं। हमें ऐसे लोग आसानी से मिल सकते हैं जो बीस वर्ष की अवस्था की अपेक्षा साठ वर्ष की अवस्था में दस गुने अधिक धनी हो गए हैं; किन्तु उनमें से एक भी नहीं कह सकेगा कि उसके सुख की मात्रा भी दस गुनी बढ़ गई है। सभी विचार-शील लोग हमको विश्वास दिलाएँगे कि सुख-दुख मन और शरीर की स्थिति पर निर्भर करते हैं, रुपये के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। रुपया भूख का इलाज कर सकता है; किन्तु दुख को दूर नहीं कर सकता। भोजन क्षुधा को मिटा सकता है; किन्तु आत्मा को सन्तोष नहीं दे सकता। प्रसिद्ध जर्मन समाजवादी फ़र्डिनैण्ड लासाले ने कहा है कि ग़रीबों को दरिद्रता के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्तेजन देने के मेरे प्रयत्न इसलिए सफल नहीं होते कि ग़रीब किसी बात की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते। अवश्य ही वे सन्तुष्ट नहीं हैं; किन्तु वे इतने असन्तुष्ट नहीं हैं कि अपनी स्थिति को बदलने के लिए भारी कष्ट उठाने को तैयार हो जायँ। रहने के लिए आलीशान कोठी हो, इशारा पाते ही दौड़ने के लिए दस-बीस नौकर हों, पहिनने के लिए नित्य नये-नये वस्त्राभूषण मिलते हों और खूब स्वादिष्ट पकवान खाने को मिलें तो कौन ऐसा मन्दभागी धनी होगा जो अपने को सुखी न समझे? किन्तु बात यह है कि धनी इन चीज़ों से भी अघा जाते हैं। सवेरे दिन चढ़े उठना, शौच जाने और मुखमार्जन करने से पहिले ही चाय पान करना, उबटन और स्नान, भोजन और आराम, हवाखोरी और रात के बारह बजे तक नाटक-सिनेमा में वक्त गुज़ार देना अधिक सुखी होने की निशानी नहीं है। पश्चिमी देशों में यदि ग़रीब औरत को एक बड़ा मकान, बहुत सारे नौकर, दर्जनों पोशाकें, सुन्दर चेहरा और अच्छे बाल मिल जाएँ तो वह फूली न समावेगी; किन्तु धनी महिला जिसको ये सब चीज़ें उपलब्ध होती हैं, बहुधा उन चीज़ों से दूर रहने के लिए अपने समय का बड़ा भाग कष्टकर स्थानों में भ्रमण करने में बिताती है। आम तौर पर एक नौकरानी की सहायता से नहाने-धोने, कॉंच-कंघी करने और बनने-ठनने में दिन के दो-तीन घंटे

सकती है, वही देश को, महाद्वीप को और अन्त में सारी सभ्य दुनिया को पतित बना सकती है; कारण, दुनिया भी एक विस्तृत पड़ोस ही तो है। उसके दुष्परिणामों से धनी नहीं बच सकते। जब दरिद्रता से ख़तरनाक संक्रामक रोग फैलते हैं (आगे या पीछे वे हमेशा फैलते ही हैं) तो धनी भी उनके शिकार होते हैं और अपने बच्चों को अपने मुँह आगे मरता देखते हैं। इसी तरह उससे जब अपराधों और हिंसा की बाढ़ आती है तो धनी दोनों ही के डर से भागते हैं और उन्हें अपनी और अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए बहुत सारा रुपया ख़र्च करना पड़ता है। धनिकों के बालकों को चाहे कितनी ही सावधानी के साथ अलग क्यों न रक्खा जाय, दरिद्रता के कारण पैदा होने वाली बुरी आदतों और गन्दी ज़बान को वे ग़रीबों से तुरन्त सीख लेते हैं। यदि ग़रीब घरों की सुन्दर युवतियां समझें (वे समझती हैं) कि ईमानदारी से काम करने की अपेक्षा वे दुराचरण द्वारा अधिक रुपया कमा सकती हैं तो वे धनी युवकों के रक्त को विषमय कर देंगी। ये ही युवक जब शादी करेंगे तो अपनी पत्नियों और बच्चों को भी उसी बीमारी की छूत लगा देंगे और उनको हर तरह के कष्ट पहुँचाने के कारण बनेंगे। कभी-कभी अंग-भंग, नेत्र-हीनता और मृत्यु तक की नौबत पहुँचेगी। अन्यथा कुछ-न-कुछ उत्पात तो सदा होगा ही। यह पुराना ख़याल है कि लोग अपने आप में मस्त रह सकते हैं और पड़ोस में या सौ मील दूर होने वाली घटनाओं का उन पर कुछ असर न होगा; किन्तु यह बहुत ग़लत ख़याल है। हम आपस में भाई-भाई हैं। यह कोरी धार्मिक उक्ति नहीं है जो बिना किसी मतलब के धर्म स्थान में दुहराए जाने की ग़रज़ से कह दी गई हो। वह मूर्तिमान सत्य है। नगर का धनी हिस्सा ग़रीब हिस्से से दूर रह सकता है, किन्तु जब प्लेग आएगी तो ग़रीब हिस्से के साथ वह भी मरेगा, बच नहीं सकेगा। दरिद्रता का अन्त कर चुकने के बाद ही लोग अपने आप में मस्त रह सकेंगे। जबतक ऐसा नहीं होता, वे दरिद्रता के दृश्यों, शोर-गुल और दुर्गन्ध को नित्य घूमने जाते समय अपनी आँखों से दूर नहीं रख सकेंगे और न सुख की नींद सो सकेंगे। दरिद्रता-जनित अत्यन्त भयानक

और घातक बुराइयों का उन्हें सदा डर रहेगा जो उनकी मज़बूत पुलिस-चौकियों को पार करके कभी भी उन तक पहुँच सकती हैं।

साथ ही जबतक दरिद्रता की सम्भावना रहेगी, हम विश्वासपूर्वक यह नहीं कह सकते कि हम कभी भी उस के शिकार न होंगे। यदि हम दूसरों के लिए खड्डा खोदें तो स्वयं भी उस में गिर सकते हैं। यदि हम दरार को खुली छोड़ दें तो खेलते समय हमारे बच्चे उस में गिर सकते हैं। हम रोज़ ही देखते हैं कि अत्यन्त निर्दोष और भले कुटुम्ब दरिद्रता के खुले हुए खड्डे में गिर रहे हैं, ऐसी दशा में हम कैसे कह सकते हैं कि अगली दफ़ा हमारी बारी नहीं होगी ?

जिन अपराधों के लिए लोगों को जेल भेजना चाहिए उन अपराधों के लिए दरिद्रता के रूप में सजा देने की कोशिश करना किसी भी राष्ट्र के लिए सम्भवतः सब से बड़ी मूर्खता होगी। किसी आलसी आदमी के बारे में यह कहना आसान है—रहने दो उसको गरीब, आदमी होने का उसे उचित पुरस्कार मिला है। गरीबी उसको अच्छा सबक सिखा देगी। ऐसा कह कर हम स्वयं इतने आलसी बन जाते हैं कि नियम बनाने के पहले थोड़ा भी नहीं सोचते। चाहे वे सुस्त हों या तेज़, मद्यपी हों या मद्यविरोधी, धर्मात्मा हों या दुरात्मा, मितव्ययी हों या लापरवाह, बुद्धिमान हों या मूर्ख, हम किसी भी अवस्था में लोगों को गरीब नहीं रहने दे सकते। यदि वे सजा के पात्र हैं तो उन्हें और किसी तरीके से सजा देंगे; कारण, केवल दरिद्रता जितना नुकसान उनके निर्दोष पड़ोसियों को पहुँचाएगी उसका आधा भी उनको न पहुँचाएगी। यह सार्वजनिक खतरा और व्यक्तिगत दुर्भाग्य दोनों ही हैं। इस को सहन करना राष्ट्रीय अपराध है।

अतः हम को यह मान लेना चाहिए कि सम्पत्ति के उचित विभाजन की यह एक आवश्यक शर्त है कि हरएक को उस का इतना हिस्सा मिले कि वह गरीबी से दूर रह सके। इंग्लैण्ड में यह कोई बिल्कुल नई बात नहीं है। रानी एलिजाबेथ के ज़माने से इंग्लैण्ड का यह कानून रहा है कि किसी को भी दरिद्रावस्था में न रहने दिया जाय। कोई भी चाहे वह

कितना ही नालायक क्यों न हो यदि गरीबों के संरक्षकों के पास कंगाल की हैसियत से सहायता माँगने जाय तो उन्हें उसके भोजन-वस्त्र और निवास के लिए प्रबन्ध करना ही पड़ता है। वे अनिच्छा और कठोरता से काम ले सकते हैं, जितनी उनसे बने उतनी नागवार और अपमान-जनक शर्तें जोड़ सकते हैं, वे कंगाल को यदि वह स्वस्थ हो तो घृणास्पद और अर्थहीन काम में लगा सकते हैं और इन्कार करने पर जेल भेज सकते हैं, रहने के लिए ऐसा मकान दे सकते हैं जिस में बुड्ढे और जवान, स्वस्थ और रोगी, निर्दोष बालक-बालिकाएँ तथा पुरानी वेश्याएं और भिखारी एक दूसरे को बिगाड़ने के लिए भेड़-बकरियों की तरह बेतरतीबी से भर दिए जाते हैं। यदि कंगाल को मत देने का अधिकार हो तो मताधिकार छीन कर उस पर सामाजिक कलंक लगा सकते हैं और कुछ सरकारी नौकरियाँ या पद पाने से वंचित कर सकते हैं। संक्षेप में, वे अधिकारी और सम्पन्न पुरुष गरीब को इतना मजबूर कर दे सकते हैं कि वह हर तरह की कठिनाइयाँ झेलना मंजूर कर ले; किन्तु सहायता न माँगे। यह सब कुछ होते हुए भी यदि कंगाल मदद माँगे ही तो उन्हें झख मार कर देनी पड़ेगी। इस सीमा तक इंग्लैण्ड का विधान मूलतः साम्यवादी विधान है। किन्तु जिस कठोरता और दुष्टता के साथ उस पर अमल होता है, वह गम्भीर दोष है, कारण कि इंग्लैण्ड को दरिद्रता के गर्त से उबारने के बजाय वह दरिद्रता को और भी पतनकारी बना देता है। फिर भी मूल सिद्धान्त तो उस में है ही। रानी एलिजाबेथ ने कहा था कि इंग्लैण्ड में भूख के कारण या आश्रय के अभाव में कोई न मरने पाए। धनी या दरिद्र समस्त जाति पर होने वाले दरिद्रता के भीषण दुष्परिणामों का अनुभव ले चुकने के बाद आज हम को और आगे बढ़ कर कहना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति गरीब न रहे। जब हम नित्य प्रति सम्पत्ति का विभाजन करें तो सब से पहले इस बात का ध्यान रक्खें कि हरएक को इतना तो मिल ही जाय कि जिससे वह साधारणतः सम्मान और आराम के साथ रह सके। यदि वे कोई ऐसा काम करें या न करें जिससे कहा जा सके कि वे कुछ भी पाने के अधिकारी नहीं हैं तो जिस

प्रकार हम दूसरी तरह के अपराधियों को रोकते या विवश करते हैं उसी प्रकार उनको भी रोका या विवश किया जा सकता है। किन्तु उनको गरीब रहने देकर हम ऐसी स्थिति उत्पन्न न करें कि अपनी कमियों के वे कारण और सबको नुकसान पहुँचा सकें।

अब हम यह मान सकते हैं कि किसी भी दशा में लोगों को गरीब नहीं रहने देना चाहिए, फिर भी हमको इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि उन्हें धनी बनने दिया जाय या नहीं। जब दरिद्रता न रहेगी तो क्या हम भोग-विलास और फ़िजूलख़र्ची होने देंगे? इसका उत्तर देना मुश्किल है, कारण भोग-विलास की अपेक्षा दरिद्रता की परिभाषा आसानी से की जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति भूखा हो, फटे कपड़े पहिने हो और उसके पास आवश्यक सामग्री से युक्त एक भी स्वतन्त्र कमरा न हो जिसमें वह सो सके तो कहना होगा कि स्पष्टतः वह दरिद्रता से पीड़ित है। यदि एक जिले में दूसरे की अपेक्षा बाल-मृत्युयें अधिक होती हों, लोगों की औसत आयु प्राचीन धर्म पुस्तकों में वर्णित सौ वर्ष से बहुत कम हो, भले प्रकार लालित-पालित होने वाले बच्चों की अपेक्षा उन बच्चों का औसत वज़न, जो किसी तरह मृत्यु के ग्रास से बच जाते हैं, कम हो तो हम दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि उस जिले के लोग दरिद्रता से पीड़ित हैं। किन्तु धन से होने वाली पीड़ा इतनी आसानी से नहीं नापी जा सकती। जो लोग धनिकों के निकट सम्पर्क में आए हैं उनसे यह बात छिपी नहीं है कि वे भी काफी दुख भोगते हैं। वे इतने अस्वस्थ रहते हैं कि सदा किसी-न-किसी तरह के इलाज के पीछे दौड़ते रहते हैं। बीमार नहीं होते हैं तो भी समझ लेते हैं कि वे बीमार हैं। उनको हजारों तरह की चिन्ताएं घेरे रहती हैं। सम्पत्ति की, नौकरों की, दरिद्र सम्बन्धियों की, कारबार में लगी हुई पूँजी की, सामाजिक मान-मर्यादा कायम रखने की, कई बच्चे हों तो सब के लिए सुखोपभोग के साधन जुटाने की और न जाने किस-किस बात की उन्हें चिन्ता नहीं रहती। बच्चों का सवाल सब से टेढ़ा है। इंग्लैण्ड में यदि पचास हजार वार्षिक आय वाले एक धनी के

पाँच बच्चे हों तो उनका पालन-पोषण पचास हजार के हिसाब से होगा और वे वैसे ही समाज में प्रवेश करेंगे, किन्तु बाद में हरएक को १० हजार वार्षिक से अधिक न मिलेगा। धनी कुटुम्बों में उनकी शादियाँ हो जायं तो दूसरी बात है, अन्यथा इसका फल यह होगा कि वे अपनी आय से अधिक खर्च करेंगे और शीघ्र ही सिर तक क़र्ज़ में डूब जायेंगे। कारण, उनको क्या पता कि कम ख़र्च में कैसे काम चलाया जाता है। वे अपनी सन्तति को विरासत में और कुछ दें या न दें। ख़र्चीली आदतें, धनी मित्र और क़र्ज़—ये तीन चीज़ें तो दे ही जाते हैं। इस तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हालत अधिकाधिक ख़राब होती जाती है। यही कारण है कि वहाँ हर जगह ऐसी महिलाएं और भद्र पुरुष दिखाई देते हैं जिनके पास अपनी मान-मर्यादा को क़ायम रखने के साधन नहीं होते और इसलिए वे साधारण ग़रीबों से कहीं अधिक संकट में रहते हैं।

हम जानते हैं कि कुछ ऐसे सम्पन्न कुटुम्ब भी हैं जो धनिकता के कारण पीड़ित नहीं हैं। वे ठूँस-ठूँस कर नहीं खाते, ऐसे काम करते हैं जिससे स्वस्थ रह सकें। मान-मर्यादा की चिन्ता नहीं करते, सुरक्षित स्थान में पूँजी लगाते हैं, कम ब्याज पर ही सन्तोष कर लेते हैं और अपने बच्चों को सादगी से रहने और उपयोगी काम करने की शिक्षा देते हैं। किन्तु इसका तो यह अर्थ हुआ कि वे धनी आदमियों की तरह बिल्कुल नहीं रहते। इसलिए उनको मामूली आय भी काफ़ी हो सकती है। अधिकांश धनी नहीं जानते कि उन्हें क्या करना चाहिए, फलतः वे समाज में होने वाले नाच-रंगों के चक्कर में पड़ जाते हैं। उन के लिए यह चक्कर इतना कठिन होता है कि वे नौकरों से भी अधिक थक जाते हैं। चाहे खेलों के प्रति उन की रुचि न हो; किन्तु अपनी सामाजिक स्थिति के कारण घुड़दौड़ और शिकार पार्टियों में जाने के लिए वे विवश होते हैं। गाना सुनने का शौक न हो तो भी उन्हें नाटकों और रंगीन गायन मंडलियों में जाना पडता है। वे न तो इच्छानुसार पोशाक ही पहिन सकते हैं और न इच्छानुसार काम ही कर सकते हैं। वे धनी हैं, इसलिए जो दूसरे धनी करें वही उन्हें भी करना

चाहिए। और करें भी तो क्या करें? करने के लिए कुछ हो भी? काम वे अलबत्ता कर सकते हैं, किन्तु काम को हाथ लगाया नहीं, और वे मामूली आदमी बने नहीं! इस प्रकार इच्छानुसार वे कर नहीं सकते। इसलिए जो करते हैं उसी को पसन्द करने की चेष्टा करते हैं और कल्पना करते हैं कि हम मौज में हैं। किन्तु असलियत यह है कि चहल-पहल से उनका जी उचटा रहता है, डाक्टर उनको बेवकूफ बनाते रहते हैं और व्यापारी लूटते रहते हैं तथा अपने से अधिक धनियों के हाथों हुए अपमान के बदले उन्हें गरीबों का अपमान कर बुरी तरह सन्तोष मानना पड़ता है।

इस बोझ से बचने के लिए वहाँ के योग्य और उत्साही धनिक पार्लमेण्ट में, राजनैतिक विभाग में या सेना में दाखिल हो जाते हैं या अपनी जागीर और कारबार को अपने वकीलों, दलालों और प्रतिनिधियों के भरोसे छोड़ने के बजाय उसका स्वयं प्रबन्ध और विकास करते हैं या भारी परिश्रम और खतरों का सामना कर अज्ञात देशों की खोज करते हैं। फलस्वरूप उनका जीवन उन लोगों के जीवन से बहुत भिन्न नहीं होता, जिन्हें ये सब काम अपनी जीविका के लिए करने होते हैं। इस तरह वे धनी हो जाते हैं और यदि हमारी भाँति उनको भी ग़रीब बन जाने का लगातार डर न बना रहता तो वे अधिक सम्पत्ति की चिन्ता रखने के फेर में न पड़ते। दूसरों की अपेक्षा अधिक धनी होने में वे लोग ही विशेष सन्तोष अनुभव करते हैं जो आलस्य में पड़े रहने में आनन्द मानते हैं, अपने पड़ोसियों से अपने को बड़ा मानते हैं और उनसे तदनुसार व्यवहार की आशा रखते हैं। किन्तु कोई भी देश इस प्रमाद को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। आलस्य और मिथ्याभिमान कोई गुण नहीं हैं कि जिनको प्रोत्साहन दिया जाय। वे दुर्गुण है और दूर किए जाने चाहिएँ। इसके अलावा आलसी और निकम्मे पड़े-पड़े ग़रीबों पर हुक्म चलाते रहने की इच्छा उचित भी हो तो भी यदि ग़रीब न हों तो वह कैसे तृप्त की जा सकती है? हम न ग़रीब आदमी चाहते हैं और न धनी आदमी, हम खाली आदमी चाहते हैं जिनके पास काफी सम्पत्ति

हो और काफी से भी कुछ अधिक हो।

किन्तु फिर वही पुराना सवाल उठता है कि जीवन के लिए कितना काफ़ी होगा? यह ऐसा सवाल है कि जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम किस प्रकार का जीवन बिताना चाहते हैं। जो भिखारी जीवन के लिए काफ़ी होगा, वही अत्यन्त सभ्य जीवन के लिए काफी न होगा। सभ्य जीवन के साथ व्यक्तिगत शौक तथा गायन-कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान और तत्वज्ञान का वातावरण लगा रहता है। इन चीज़ों के विषय में हम कभी भी नहीं कह सकते कि बस, काफी हो गया। कुछ-न-कुछ नए आविष्कार का और कुछ-न-कुछ पुरानी व्यवस्था में सुधार करने का काम सदा रहता ही है। संक्षेप में, किसी विशेष समय रोटी या जूते जैसी चीज़ों की भले ही सीमा निर्धारित की जा सके, किन्तु सभ्यता की कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती। यदि ग़रीब होने का यह अर्थ हो कि हम में अच्छी वस्तुओं की चाह बनी रहे। यह कहना कठिन है कि इसके अलावा और कौन-सी भावना ग़रीबी का परिचय दे सकती है। तो हमारे पास चाहे जितना रुपया क्यों न हो, हमें अपने आपको सदा ग़रीब ही समझना चाहिए। कारण, हमारे पास यह या वह चीज़ काफी हो सकती है, किन्तु सभी चीज़ें कभी काफ़ी परिमाण में न होंगी। फल-स्वरूप कुछ लोगों को काफ़ी और कुछ को काफ़ी से अधिक देने का विचार किया जाएगा तो वह योजना असफल होगी। कारण, कोई भी सन्तुष्ट न हो पायगा और सारा रुपया ख़र्च हो जाएगा। हरएक आदमी शौक़ीन लोगों का एक उड़ाऊ वर्ग स्थापित करने और उसको क़ायम रखने के उद्देश्य से अधिकाधिक माँगता ही रहेगा। अन्त में यह वर्ग भी अपने दरिद्रतर पड़ोसियों की अपेक्षा अधिक असन्तुष्ट हो जायगा।

अतः सम्पत्ति-विभाजन की साम्यवादी योजना के अनुसार बराबर-बराबर बाँटने पर हरएक को जो कुछ मिलेगा वही हम में से हरएक के लिए काफी होगा। हम वही बराबरी का हिस्सा चाहते हैं, न निर्धनता चाहते हैं और न धनिकता।

: ५ :

असमान आय के दुष्परिणाम

किसी भी गृहस्थ को सब से पहिले यह तय करना पड़ता है कि उसको किन-किन चीज़ों की सब से अधिक आवश्यकता है और कौनसा काम वह बिना कष्ट उठाए कर सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि गृहस्थ को अपनी आवश्यकतानुसार चीज़ों का क्रम नियत कर लेना चाहिए। उदाहरण के लिए, घर में तो काफ़ी भोजन भी न हो और घर की मालकिन इत्र की शीशी और नक़ली मोतियों की माला ख़रीदने में अपना सारा रुपया ख़र्च कर दे तो वह मिथ्याभिमानिनी, मूर्खा और कुमाता कहलायगी, किन्तु दूरदर्शी महिला केवल इतना ही कहेगी कि वह कुप्रबन्धक है जिसे यह भी नहीं मालूम कि रुपया पास हो तो पहिले क्या खरीदना चाहिए। जिस स्त्री में यह समझने की भी शक्ति न हो कि पहिले भोजन, वस्त्र, मकान आदि की आवश्यकता होती है और इत्र की शीशी और नकली अथवा असली मोतियों की माला की बाद में, वह गृहस्थी का भार ग्रहण करने योग्य नहीं है। हमारा यह मतलब नहीं कि सुन्दर चीज़ें उपयोगी नहीं होतीं। अपने उचित क्रम में वे बहुत उपयोगी और बिल्कुल ठीक हैं, किन्तु उनका नम्बर पहिले नहीं आता। किसी बालक के लिए उसकी धर्म-पुस्तक बहुत उपयोगी हो सकती है, किन्तु भूखे बालक को दूध-रोटी के बजाय धर्म-पुस्तक देना पागलपन होगा। स्त्री के शरीर की अपेक्षा उसका मन अधिक आश्चर्यजनक होता है, किन्तु यदि शरीर को भोजन न दिया जाय तो मन कैसे टिक सकता है? इसके विपरीत यदि उसके शरीर को भोजन दें तो मन अपनी और शरीर दोनों की चिंता कर लेगा। भोजन का नम्बर पहिला है।

प्राथमिक आवश्यकताओं की उपेक्षा

हम को समस्त देश को एक बड़ा घर और सारी जाति को एक बड़ा कुटुम्ब मान कर चलना चाहिए (वास्तव में यह है भी ऐसा ही।) और

तब हमें उसका प्रबन्ध करना चाहिए। हम को क्या दिखाई देता है ? सर्वत्र बालक अधभूखे, फटे-टूटे कपड़े पहिने, गन्दे घरों में पड़े हैं। जो रुपया उनको योग्य भोजन, वस्त्र और मकान देने में खर्च होना चाहिए, वही लाखों की तादाद में इत्र की शीशियों, मोतियों की मालाओं, पालतू कुत्तों, मोटर गाड़ियों और हर तरह के व्यर्थ कामों में खर्च होता है। इंग्लैण्ड में एक बहिन के पास केवल एक फटा-टूटा जूता है, सर्दी के मारे उसकी नाक सदा बहती रहती है, उसको पोंछने के लिए एक रूमाल का चिथड़ा भी उसके पास नहीं है। दूसरी के पास चालीसों जूते-जोड़ियां और दर्जनों रूमाल हैं। एक ओर एक छोटा भाई है जो पैसे के चनों पर गुज़र करता है और अधिक के लिए बराबर मांगता रहता है और इस तरह अपनी मां के दिल को तोड़ता रहता है और उसके धैर्य को थका देता है। दूसरी ओर एक मोटा भाई है जो एक बढ़िया होटल में प्रातःकाल के भोजन पर पाँच-छः गिन्नियां खर्च कर देता है, शाम को रात्रिकल्ब में खाता है और डाक्टर की दवा लेता है, कारण, वह बहुत अधिक खाता है !

यह अत्यन्त बुरी अर्थ-व्यवस्था है। जब विचारहीन लोगों से इसका कारण पूछा जाता है तो वे कहते हैं : ओह, चालीस जूते-जोड़ियां रखने वाली महिला और रात्रि-क्लब में शराब पीने वाले आदमी को उनके पिता द्वारा रुपया मिला है। यह रुपया उसने रबड़ के सट्टे में कमाया था। और फटे-टूटे जूते वाली लड़की और अपनी मां के हाथों मार खाने वाला उत्पाती लड़का दोनों मज़दूर मुहल्ले के केवल कूड़ा-कर्कट मात्र हैं। यह सही है, किन्तु जो जाति अपने बच्चों के लिए पर्याप्त दूध का प्रबन्ध करने से पहिले ही शेम्पेन शराब पर रुपया खर्च करती है अथवा जब काफ़ी पोषण न मिलने के कारण हज़ारों ही बच्चे काल के ग्रास बन रहे हों, तब भी सिलिहेम, अलसेशियन और पेकिंगी कुत्तों को बढ़िया बढ़िया भोजन देती है, वह निस्सन्देह अव्यवस्थित, हतबुद्धि, मिथ्याभिमानी, मूर्ख और अज्ञ है। उसका पतन निश्चित है।

किन्तु इन सब हानिकारक बेहूदगियों का कारण क्या है ? किसी

समझदार आदमी ने कभी भी इनकी इच्छा नहीं की। बात यह है कि जब कभी दूसरों की अपेक्षा कुछ कुटुम्ब बहुत अधिक धनी होंगे तभी इन बुराइयों का जन्म होना निश्चित है। धनी आदमी जब पति और पिता बन कर स्त्री को अपने साथ घसीटता है तब वह भी यही करता है। तब अन्य लोगों की भांति वह भी पहिले भोजन, वस्त्र और मकान का प्रबन्ध करता है। ग़रीब आदमी भी यही करता है। किन्तु अपनी शक्तिभर खर्च कर डालने पर भी ग़रीब आदमी की ये आवश्यकतायें पूर्णतः पूरी नहीं होतीं, भोजन पूरा नहीं पड़ता, कपड़े पुराने और मैले रहते हैं, रहने के लिये एक कोठरी या उसका कुछ भाग मिल पाता है और वह भी अस्वास्थ्यकर होता है। दूसरी ओर धनी आदमी शानदार कोठी में रहता है, खूब खाता और पहनता है। फिर भी उसके पास अपनी रुचियों और कल्पनाओं को सन्तुष्ट करने तथा दुनिया में बड़प्पन जमाने के लिये काफ़ी रुपया बच रहता है। ग़रीब आदमी कहता है—"मुझे और रोटी, और कपड़े, तथा अपने कुटुम्ब के लिये अधिक अच्छा घर चाहिए, किन्तु मेरे पास उसके लिये खर्च करने को कुछ नहीं है।" धनी आदमी कहता है--"मुझे कई मोटरें जल-नौकाएं, पत्नी और पुत्रों के लिये हीरे-मोती और घने जंगल में एक शिकारगाह चाहिए।" स्वभावतः व्यवसायी मोटरें और जल-नौकाएं बनाने में जुट पड़ते हैं, अफ्रीका में जाकर हीरे खुदवाते हैं, समुद्र की तह से मोती निकलवाते हैं और मिनटों में शिकारगाह खड़ी कर देते हैं। ग़रीब आदमी की ओर कोई ध्यान नहीं देता जिसकी आवश्यकतायें तात्कालिक होती हैं, किन्तु जिसकी जेबें खाली रहती हैं।

इसी बात को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं। ग़रीब आदमी जिन चीजों का कभी अनुभव करता है उनको बनाने के लिए मज़दूर लगाना चाहता है। वह चाहता है कि लोग पकाने, बुनने, सीने और मकान बनाने का काम करें। किन्तु वह पाक-शास्त्रियों और बुनकर मास्टरों को इतना रुपया नहीं दे सकता जिससे वे अपने अधीन काम करने वालों को मजदूरी चुका सकें। उधर धनी आदमी अपनी पसन्द

के काम करवाने के लिये खासी मजदूरी देता है। इस तरह की मजदूरी पाने वाले सब लोग कठोर परिश्रम क्यों न करते हों; किन्तु उसका फल यह होता है कि भूखों को भोजन मिलने के बजाय धनिकों के धन में ही वृद्धि होती है। वह श्रम उचित स्थान पर नहीं होता, व्यर्थ जाता है और देश को ग़रीब बनाए रखता है।

इस स्थिति के पक्ष में यह दलील नहीं दी जा सकती कि धनी लोगों को काम देते हैं। काम देने में कोई विशेषता नहीं है। हत्यारा फांसी लटकाने वाले को काम देता है और मोटर चलाने वाला बच्चों पर मोटर चलाकर डोली ले जाने वाले को, डाक्टर को, कफ़न बनाने वाले को, पादरी को, शोकसूचक पोशाक सीने वालों को, गाड़ी खींचने वाले को, क़ब्र खोदने वाले को। संक्षेप में, इतने सारे योग्य लोगों को काम देता है कि जब वह आत्म-हत्या करके मर जाता है तो सार्वजनिक हित-साधक के नाते उसकी मूर्ति खड़ी न करना कृतघ्नता की निशानी प्रतीत होती है! यदि रुपए का समान विभाजन हो तो जिस रुपए से धनी ग़लत काम करवाते हैं उससे योग्य काम करवाया जा सकेगा।

यदि भविष्य की साधारण स्त्रियां आज की उच्च-से-उच्च धनी महिलाओं से अच्छी न होंगी तो वह सुधार हमारे घोर असन्तोष का कारण होगा, और वह असन्तोष होगा दैवी असन्तोष! अतः हम विचार करें कि मानव प्राणी होने की हैसियत से लोगों के चरित्र पर समान आय का क्या असर होगा।

कुछ लोग कहते हैं कि यदि हम लोग अधिक अच्छे आदमी चाहते हैं तो जिस तरह पश्चिम में उत्तम घोड़ों की और उत्तम सूअरों की नस्ल पैदा करते हैं, उसी तरह आदमियों की भी पैदा करें। निस्सन्देह हमको ऐसा करना चाहिए, किन्तु इस में दो कठिनाइयां हैं। पहिले तो जैसे हम गाय-बैलों, घोड़े-घोड़ियों, सूअर-सूअरियों की जोड़ियां मिलाते हैं, वैसे स्त्री-पुरुषों की जोड़ियां बिना उनको इस विषय में चुनाव की स्वतंत्रता दिए नहीं मिला सकते। दूसरे यदि मिला भी सकें तो जोड़ियां कैसे मिलानी चाहिएं, इसका हमें ज्ञान न होगा। कारण, हमको पता

न होगा कि हम किस तरह के आदमी पैदा करना चाहते हैं। किसी घोड़े या सूअर का मामला बहुत सीधा है। दौड़ के लिये बहुत तेज़ और बोझा खींचने के लिये बहुत मज़बूत घोड़े की ज़रूरत होती है। और सूअर के लिये तो इतना ही चाहिए कि वह खूब मोटा हो। यह सब सीधा होने हुए भी इन जानवरों की नस्ल पैदा करने वाले किसी के भी मुह से हम सुन सकते हैं कि चाहे जितना सावधान रहने पर भी बहुत बार वान्छनीय परिणाम नहीं निकलता।

यदि हम स्वयं भी सोचें कि हमें कैसा बालक चाहिए तो लड़के या लड़की की पसन्द करने के अलावा उसी वक्त हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि हमको मालूम नहीं। अधिक-से-अधिक हम कुछ प्रकार गिना सकते हैं जो हमें नहीं चाहिएं। उदाहरण के लिए हमको लूले-लंगड़े, गूंगे-बहरे, अन्धे, नामर्द, मिरगी के रोगी और शराबी बच्चे नहीं चाहिएं। किन्तु हमको यह नहीं मालूम कि ऐसे बच्चों की उत्पत्ति रोकी कैसे जाय। कारण, इन अभागों के माता-पिताओं में बहुधा कोई खास खराबी नहीं होती। अब जो हमें नहीं चाहिएं उनको छोड़ कर जो हमें चाहिएं हम उन पर आएं। हम कह सकते हैं कि हमें अच्छे बालक चाहिएं। किन्तु अच्छे बालक की परिभाषा यह है कि वह अपने माता-पिता को कोई कष्ट न देता हो, और कुछ बहुत उपयोगी स्त्री-पुरुष बालकपन में बहुत उत्पाती रहे हैं। क्रियाशील, बुद्धिशाली, उद्यमी और बहादुर लड़के अपने माता-पिताओं की दृष्टि में हमेशा शरारती होते हैं, और प्रतिभावान पुरुष मरने से पहिले क्वचित ही पसन्द किए जाते हैं। हमने सुकरात को विष पिलाया, ईसा को सूली दी और जॉन आव आर्क को लोगों की हर्ष-ध्वनि के बीच जीवित जला दिया; क्योंकि ज़िम्मेदार विधान-वेत्ताओं और पादरियों द्वारा मुक़दमे करवाने के बाद हमने तय किया कि वे इतने दुष्ट हैं कि उन्हें जीवित नहीं रहने दिया जा सकता। इस सब को ध्यान में रखते हुए हम शायद ही अच्छाई के निर्णायक हो सकते हैं और उसके लिए हृदय में सच्चा प्रेम रख सकते हैं।

यदि हम जाति को उन्नत बनाने के लिए पति-पत्नी चुनने का काम राजनैतिक सत्ता के हाथ में सौंपने को तैयार हो भी जायं तो अधिकारियों की कठिनाइयों का पार न होगा। वे मोटे तौर पर इस तरह शुरू कर सकते हैं कि क्षय, पागलपन, गर्मी-सुजाक, या मादक द्रव्यों की जिन लोगों को ज़रा भी छूत लग गई तो उन्हें शादी न करने दें। किन्तु आज क़रीब-क़रीब कोई कुटुम्ब ऐसा नहीं मिलेगा जो इन रोगों से सर्वथा मुक्त हो, फलतः किसी का भी विवाह न हो सकेगा। और नैतिक श्रेष्ठता का वे कौनसा नमूना वाञ्छनीय समझेंगे? दुनिया में भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्य बसते हैं। एक सरकारी विभाग यह मालूम करने की कोशिश करे कि मनुष्यों के कितने प्रकार होने चाहिएं। और फिर यथायोग्य शादियों द्वारा उनको पैदा कराए! यह ख़याल मनोरंजक तो अवश्य है, किन्तु व्यावहारिक नहीं है। सिवा इसके कि लोगों को अपनी जोड़ियां आप बना लेने दी जाएं और सत्परिणाम के लिये प्रकृति पर भरोसा किया जाय, इसका और कोई उपाय नहीं है।

आजकल पश्चिमी देशों में जब जोड़ी चुनने का प्रसंग आता है तो हरएक कितनी पसन्द से काम लेता है? पहिली ही दृष्टि में प्रेमासक्त करके प्रकृति किसी स्त्री को उसका ऐसा जोड़ीदार बता दे सकती है, जो उसके लिए सर्वश्रेष्ठ हो, किन्तु यदि स्त्री के पिता और जोड़ीदार की आय में समानता न हो तो जोड़ीदार स्त्री के वर्ग से बाहर हो जाता है, सम्पत्ति के हिसाब से नीचे या ऊँचे वर्ग में चला जाता है और उसको नहीं पा सकता। स्त्री अपनी पसन्द के पुरुष के साथ विवाह नहीं कर सकती, बल्कि जो मिल सके उसे उसके ही साथ शादी करनी पड़ती है और बहुधा यह पुरुष अपनी पसन्द का ही पुरुष नहीं होता।

पुरुष की भी यही दशा है। लोग जानते हैं कि प्रेम के बजाय रुपये या सामाजिक पद के लिए विवाह करना अप्राकृतिक है। फिर भी वे रुपये या सामाजिक पद-प्रतिष्ठा या दोनों ही के लिए विवाह करते हैं। कोई स्त्री भंगी के साथ शादी नहीं कर सकती और उमराव उसके साथ शादी नहीं

करेगा, क्योंकि उनके कुटुम्बियों की और उनकी आदतें और रहन-सहन के ढंग समान नहीं होते और भिन्न आचार-विचारों के लोग एक साथ नहीं रह सकते, आय की भिन्नता के कारण ही आचार-विचार की भिन्नता पैदा होती है। स्त्रियाँ प्रायः अपनी पसन्द के पति नहीं पा सकतीं और इसलिए जो उपलब्ध हो, अन्त में उसी के साथ विवाह कर लेने को मजबूर होती हैं।

ऐसी परिस्थिति में अच्छी नस्ल कभी पैदा नहीं की जा सकती। यदि प्रत्येक कुटुम्ब के पालन-पोषण में बराबर रुपया खर्च हो तो हमारे आचार-विचार, संस्कृति और रुचियां सब समान होंगे। तब रुपये के लिए कोई विवाह न करेगा, कारण उस समय विवाह में न तो रुपए का लाभ होगा न हानि। अपने प्रियतम के दरिद्र होने के कारण ही किसी स्त्री को उससे विरत होने की आवश्यकता न पड़ेगी और न उस कारण उसकी कोई उपेक्षा ही कर सकेगा। तब दिल-मिले जोड़े बन सकेंगे और उन से अभीष्ट सन्तानें पैदा हो सकेंगी।

असमान आय के कारण सबको निष्पक्ष न्याय भी सुलभ नहीं होता। यद्यपि कानूनी न्याय का पहिला सिद्धान्त ही यह है कि व्यक्तियों का पक्षपात नहीं किया जाएगा। मज़दूर और करोड़-पति के बीच निष्पक्ष होकर न्याय-तुला पकड़ी जायगी। न्यायाधीश और उसके सहवर्गी पंचों के निर्णय के अतिरिक्त और किसी तरह व्यक्तियों की जिन्दगी या स्वाधीनता नहीं छीनी जाएगी। किन्तु इंग्लैंड में तथा अन्यत्र भी आजकल मज़दूरों का न्याय मज़दूर-पंच नहीं करते, कर-दाताओं के पंच उनका न्याय करते हैं जिनके दिलों में वर्गीय पक्षपात की भावना काम करती रहती है। कारण, उनको बड़ी आय होती है और इसलिए वे अपने आपको श्रेष्ठ समझते हैं। धनी आदमियों का साधारण पंच न्याय करते हैं तो उन्हें भी उन पंचों की वर्गीय भावना और ईर्ष्या का सामना करना होता है। इसीलिए यह आम कहावत चल पड़ी है धनी के लिए एक क़ानून है और ग़रीब के लिए दूसरा। किन्तु मूलतः यह ठीक नहीं है, क़ानून सब के

न्याय में पक्षपात

लिए एक ही है। लोगों की आयों में परिवर्तन होना चाहिए। दीवानी क़ानून के द्वारा समझौतों का पालन कराया जाता है और मान-हानि तथा चोट पहुँचाने के मामलों का निपटारा होता है, किन्तु इस क़ानून के द्वारा कार्रवाई करवाने के लिए इतने क़ानूनी ज्ञान और वाक्-चातुर्य की आवश्यकता होती है कि इन गुणों से हीन साधारण व्यक्ति वकीलों को नियुक्त करके ही उसका लाभ उठा सकता है। हिन्दुस्तान जैसे देश में जहाँ निर्धनता हद-दर्जे की है ग़रीब लोग न्याय प्राप्त करने में प्रायः सफल नहीं होते। उनके पास अपने वकीलों को देने के लिए बड़ी-बड़ी रक़में नहीं होतीं। इसका अर्थ यह है कि धनी आदमी की माँगे पूरी न हों तो वह ग़रीब को अदालत में जाने की धमकी दे कर डरा सकता है। वह ग़रीब के अधिकारों की उपेक्षा कर सकता है और उसको कह सकता है कि यदि वह असन्तुष्ट है तो उसके ख़िलाफ़ अदालती कार्रवाई कर सकता है। वह अच्छी तरह जानता है कि ग़रीब को दरिद्रता और अज्ञान के कारण क़ानूनी सलाह और संरक्षण नहीं मिल सकेंगे।

यद्यपि फ़ौजदारी क़ानून के अनुसार कार्रवाई कराने के लिए पुलिस वादी पक्ष से कुछ लेती नहीं है, किंतु फिर भी धनी क़ैदियों के साथ पक्षपात होता ही है। वे बहुत सारा रुपया ख़र्च करके अपनी वकालत कराने के लिए प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वकील-बैरिस्टर नियुक्त कर सकते हैं। देश में से ही नहीं, दुनिया भर में से गवाहों की खोज कर सकते हैं, गवाहों को डरा या ललचा सकते हैं और अपील के प्रत्येक सम्भव प्रकार और देर करने के उपाय शेष नहीं छोड़ते। अमेरिका के धनिकों के ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जो यदि ग़रीब होते तो कभी के फाँसी पर लटका कर या विद्युत द्वारा मार डाले गए होते, किन्तु ऐसे आदमी तो कितने ही हरएक देश की जेलों में पड़े होंगे जिनके पास यदि ख़र्च करने को कुछ सौ रुपया होते तो वे छोड़ दिये गए होते।

क़ानून मूलतः भी विशुद्ध नहीं है। कारण, वे धनियों द्वारा बनाए गए हैं। (हिन्दुस्तान में उनका निर्माण अहिन्दुस्तानियों द्वारा हुआ है, यह अन्य देशों की अपेक्षा विशेष है।) इंगलैण्ड में कहने के लिए सब

वयस्क स्त्री-पुरुष पार्लमेण्ट में चुने जा सकते हैं और यदि काफ़ी लोगों के मत प्राप्त कर सकें तो क़ानून भी बना सकते हैं। पार्लमेण्ट के सदस्यों को अब वेतन मिलता है और चुनाव के कुछ ख़र्चे भी सार्वजनिक कोष से दे दिए जाते हैं। किन्तु उम्मीदवार को १५० गिन्नियाँ तो शुरू में ही जमा करानी होती हैं और ५०० से ले कर १००० तक उसके बाद चुनाव लड़ने के लिए ख़र्च करनी होती हैं। फिर यदि उसे सफलता मिल भी जाय तो पार्लमेण्ट के सदस्य को लन्दन में जैसा जीवन बिताना होता है उसके लिए ४०० गिन्नी सालाना तनख्वाह काफ़ी नहीं होती। इसमें पेन्शन का तो सवाल ही नहीं है, भविष्य की कोई आशा भी नहीं रहती है। अगले चुनाव में हार हुई कि वेतन मिलना बन्द हुआ। यही कारण है कि इंग्लैण्ड में ग़रीबों का ६० प्रतिशत बहुमत होने पर भी पार्लमेण्ट में उनके प्रतिनिधि अल्प-मत में हैं, क्योंकि इन सुविधाओं से भी धनी ही लाभ उठा सकते हैं।

जो आदमी चीज़ों को काम में लेता है या दूसरों की सेवा तो ग्रहण करता है; किन्तु स्वयं उतनी ही चीज़ें पैदा नहीं करता या उसी परिमाण में दूसरों की उतनी सेवा नहीं करता, वह देश की उतनी ही हानि करता है जितनी एक चोर। वास्तव में चोरी का यही अर्थ है। हम धनी लोगों को, क्योंकि वे धनी हैं केवल इसलिए चोरी करने, डाका डालने, हत्या करने, लड़कियां उड़ाने, मकानों में घुस जाने, जल या थल पर डुबाने, जलाने और नष्ट करने की छुट्टी नहीं देते। किन्तु हम उनके आलस्य को सहन करते हैं जो एक ही वर्ष में इतना नुक़सान कर देता है जितना क़ानून द्वारा दण्डनीय दुनिया के सब अपराध दस साल में भी नहीं कर पाते। धनी लोग अपने पार्लमेण्टी बहुमत द्वारा सेंध, जालसाज़ी, ख़्यानत, गठकटी, उठाईगीरी, डकैती और चोरी जैसे अपराधों के लिए घोर कठोरता से दण्ड देते हैं, किन्तु धनिकों के आलस्य पर कुछ नहीं बोलते। उलटे वे उसे जीवन का अत्यन्त सम्मानपूर्ण प्रकार मानते हैं और आजीविका के लिए श्रम करने को हल्केपन, और अपमान की निशानी समझते हैं, यह प्रकृति के क्रम को उलट देने और "बुराई तू मेरी भलाई हो जा !" को

राष्ट्रीय मंत्र मान लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

जबतक असमान आय रहेगी तबतक न्याय में पक्षपात भी रहेगा, क्योंकि क़ानून अनिवार्यतः धनिकों द्वारा बनाए जायेंगे । सब लोगों को काम करना पड़े, भला यह क़ानून धनी लोग कैसे बना सकते हैं ?

पश्चिमी देशों में जो लोग नये-नये धनी होते हैं उनके बच्चे महा आलसी होते हैं । जिसे वहाँ उच्च-जीवन कहा जाता है, वह पुराने धनिकों के लिए एक संस्कृत-कला है जिसे सीखने के लिए कठोर उम्मेदवारी की ज़रूरत होती है । किन्तु उन अभागे भाग्यवानों को न तो शारीरिक व्यायामों की शिक्षा मिली होती है और न वे पुराने धनियों की सामाजिक रीति-नीति से ही परिचित होते हैं । वे मोटरों में बैठ कर होटलों के चक्कर काटा करते हैं । उनका अर्थहीन भटकना, चाकलेटी मलाई खाते फिरना, सिगरेट फूकना और पंचमेली शराब पीना, मूर्खता-पूर्ण उपन्यासों और सचित्र समाचार-पत्रों से मनोरंजन करना सचमुच दयनीय होता है ।

आलसियों की सृष्टि

हिन्दुस्तान में भी रईसों के लड़के कुत्ते मारते फिरते हैं । ताश, शतरंज खेलने में अपना वक्त गुज़ारते हैं । कितने ही जुए में बर्बाद हो जाते हैं । रईसों को भी पड़े-पड़े खाने और भोग-विलास में लिप्त रहने के सिवा और कोई काम नहीं होता । उनका काम उनके मुनीम और कारिन्दे करते हैं । यही कारण है कि उनकी तोंदें बढ़ जाती हैं और वे हमेशा बीमार रहते हैं ।

किन्तु ऐसे धनी भी होते हैं जो अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करते हैं । उन्हें पुनः स्वस्थ रहने के लिए आराम लेने की ज़रूरत आ पड़ती है । जो लोग जीवन को एक लम्बी छुट्टी बनाने की कोशिश करते हैं, उन्हें जीवन से भी छुट्टी लेने की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है । आलस्य में जीवन बिताना इतना स्वाभाविक और भार-स्वरूप होता है कि पश्चिमी देशों में आलसी धनिकों की दुनिया में भी अत्यन्त थका देने वाली हलचलें बराबर होती रहती हैं । वहां की लाइब्रेरियों में

ऐसी पुरानी पुस्तकें मिल सकती हैं जिनमें उनके धनी लेखकों या लेखिकाओं ने अपने राज-रंग के दैनिक कार्य-क्रम का उल्लेख कर धनिकों के आलसी होने के आरोप का निराकरण किया है। किन्तु उस राग-रंग का शिकार होने के बजाय तो सड़क पर झाड़ू लगाना कहीं अधिक अच्छा है।

इसके अलावा कुछ धनी आवश्यक सार्वजनिक कार्य भी करते हैं। यदि शासक-वर्ग को राजनैतिक सत्ता अपने हाथ में रखनी हो तो उसे वह काम भी करना ही चाहिए। उसके लिए वेतन नहीं दिया जाता और यदि दिया भी जाता है तो इतना कम कि सम्पत्तिवान लोगों के अलावा उसको और कोई नहीं कर पाता। इंगलैण्ड में उच्च विभागीय सिविल सर्विस की परीक्षायें ऐसी रक्खी जाती हैं कि केवल बहु-व्यय साध्य शिक्षा पाने वाले व्यक्ति ही उनको पास कर सकते हैं। इन उपायों द्वारा वह काम धनिकों के हाथों में रक्खा जाता है। पार्लमेण्टी पदों पर मुख्यतः धनी लोगों के होते हुए भी जब कभी उन पदों के लिए काफ़ी वेतन निश्चित करने का प्रयत्न किया गया तो उन्होंने उसका विरोध किया। सेना में भी उन्होंने ऐसी स्थिति पैदा करने की भरसक कोशिश की कि जिसमें एक अफ़सर अपने वेतन पर निर्वाह न कर सके। इसका वे अपने वर्ग के आलसी बने रहने के अधिकार की रक्षा के लिए पार्लमेण्ट, राजनैतिक विभाग, सेना, अदालतों और स्थानीय सार्वजनिक संस्थाओं में काम करते हैं। इस प्रकार काम करने वाले धनिकों को ठीक अर्थों मे आलसी धनिक नहीं कहा जा सकता; किन्तु सार्वजनिक हित की दृष्टि से यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि वे अपने वर्ग के अधिकांश धनिकों की भांति राग-रंग में अपना समय बितावें और शासन का काम उन सुवेतन भोगी कर्मचारियों और मंत्रियों पर छोड़ दें जिनके और जनसाधारण के हित समान हैं।

पश्चिमी देशों में इस आलसी वर्ग की बहुत सी स्त्रियाँ आजकल सन्तति नियमन के अप्राकृतिक उपायों का आश्रय लेती हैं। किन्तु उनका उद्देश्य बच्चों की संख्या और उत्पत्ति के समय का नियमन करना नहीं

होता। वे तो बच्चे ही पैदा करना नहीं चाहतीं ! होटलों में खाती-पीती हैं या अपने घरों का प्रबन्ध अन्य गृह-प्रबन्धिकाओं से कराती हैं। वे रसोईघर और बच्चों के लालनपालन के लिए इतनी ही अनुपयुक्त होती हैं जितने अनुपयुक्त हम इन कार्यों के लिए पुरुषों को समझते हैं। वे अपने अनर्जित धन को भोग-विलास और व्यर्थ के कामों में बुरी तरह खर्च करती हैं।

तो इस आलसी वर्ग में सच्चे आलसियों के अलावा वे लोग भी शामिल हैं जो श्रम तो करते हैं, किन्तु उससे कोई उपयोगी चीज़ उत्पन्न नहीं होती। वे कुछ न करने के बजाय कुछ न करने के लिए अपने को योग्य बनाए रखने के लिए सदा कुछ-न-कुछ करते रहते हैं और उससे दुखी भी रहते हैं।

इंगलैण्ड में धनिकों ने पार्लमैण्ट और अदालतों की भांति गिर्जों पर भी अपना अधिकार जमा लिया है। वहां पादरी ग्राम्य-स्कूल

धर्म संस्थाओं, स्कूलों और अखबारों का पतन

में प्रायः ईमानदारी और समानता का पाठ नहीं पढ़ाता। वह केवल धनिकों के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना सिखाता है और उस श्रद्धा-भक्ति को ही धर्म बताता है। वह ज़मीन्दार का मित्र होता है जो न्यायाधीश की भांति धनिकोंकी पार्लमैण्ट द्वारा धनिकों के हित में बने क़ानूनों का पालन कराता है और उन्हीं को न्याय कहता है। परिणाम यह होता है कि ग्रामवासियों का दोनों के प्रति आदर-भाव शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और वे उन्हें सशंक दृष्टि से देखने लगते हैं। वे भले ही आदरपूर्वक उनके लिए टोप छूते और सिर झुकाते रहें, किन्तु वे एक दूसरे के साथ यह कानाफूंसी करने से नहीं चूकते कि ज़मीन्दार ग़रीबों को चूसने और सताने वाला है और पादरी पाखंडी है ! बड़े दिन के अवसर पर उपहार आदि देने में ज़मीन्दार चाहे जितनी उदारता क्यों न दिखावे, किन्तु इसका उन पर कुछ असर नहीं होता। क्रान्तियों के दिनों में ऐसे श्रद्धालु किसान ही ज़मींदारों की कोठियों और पादरियों के बंगलों को जलाते हैं और मूर्तियों को खंडित करने, रंगीन

कांच की खिड़कियों को तोड़ने-फोड़ने और वाद्य-यंत्रों को नष्ट करने के लिए गिर्जाघरों को दौड़ पड़ते हैं।

इंग्लैंण्ड के स्कूलों में यदि कोई शिक्षक विद्यार्थियों को अपने देश के प्रति उनके कर्तव्य के विषय में ऐसे प्रारम्भिक सत्य सिखाता है कि जो स्वस्थ वयस्क बिना व्यक्तिगत रूप से सेवा-कार्य किए समाज पर अपना बोझ डालते हैं उन्हें अपराधी मान कर निंदा और दंड का पात्र समझा जाय, तो उसे तुरन्त उसके पद से हटा दिया जाता है और कभी-कभी उस पर अभियोग भी चलाया जाता है। इस प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली अत्यन्त गहन और तात्विक शिक्षा तक में यह भ्रष्टता घुस गई है। विज्ञान का काम उन नीम-हकीमी दवाओं का प्रचार करना हो गया है जो धनिकों की पूँजी से चलने वाली कम्पनियों द्वारा ग़रीबों और अमीरों के रोगों के लिए तैयार की जाती हैं। असल में ग़रीबों को तो आवश्यकता है अच्छे भोजन, वस्त्रों और स्वच्छ मकानों की और अमीरों को आवश्यकता है उपयोगी काम की। बस, दोनों इतने से ही स्वस्थ रह सकते हैं। अर्थ-विज्ञान सिखाता है कि ग़रीबों की मज़दूरी नहीं बढ़ाई जा सकती, आलसी धनिकों के बिना पूँजी न रहेगी और बिना काम हम नष्ट हो जायेंगे और यदि ग़रीब अधिक बच्चे पैदा न करें तो इस ख़राब-से-ख़राब दुनिया में सब ठीक हो जायगा; किन्तु यह सब निर्लज्जतापूर्ण है।

साधन-सम्पन्न माता-पिता स्वभावतः अपने बालकों को जिसे हम शिक्षा कहते हैं उसे दिलाने का प्रबन्ध करते हैं, किन्तु उनके बच्चों को इतने सफेद झूठ सिखाये जाते हैं कि उनका झूठा ज्ञान जंगली लोगों के अशिक्षित स्वाभाविक ज्ञान से कहीं अधिक ख़तरनाक हो जाता है। भूतपूर्व कैसर ने जर्मन स्कूलों और विश्वविद्यालयों से उन सब शिक्षकों को निकाल दिया था जिन्होंने यह नहीं सिखाया कि इतिहास, विज्ञान और धर्म तीनों के अनुसार होहेनजोलर्न वंश अर्थात् उसके ही घर्मी कुटुम्ब का शासन मानव-जाति भर के लिए सर्वश्रेष्ठ शासन है। किन्तु

हमारे देश में ऐसे सफेद झूठ भूखे और भीरु अध्यापकों द्वारा कितने ही सिखाए जाते हैं।

लोग समाचार पत्रों के आधार पर अपनी रायें इतनी अधिक स्थिर करते हैं कि यदि समाचार-पत्र स्वतन्त्र हों तो स्कूलों के भ्रष्ट हो जाने की भी चिन्ता करने की ज़रूरत न रहे। किन्तु समाचार-पत्र स्वतन्त्र नहीं हैं। उनमें बहुत रुपया लगता है। अतः वे धनिकों के अधिकार में हैं। वे धनिकों के विज्ञापनों पर निर्भर रहते हैं, किन्तु जो स्वतन्त्र भी होते हैं उनके दरिद्र मालिक और सम्पादक धनिकों द्वारा खरीदे जा सकते हैं। उनमें से कोई ही धनिकों के हितों के विरुद्ध कुछ छापता है। फल यह होता है कि दृढ़तम, अत्यन्त स्वतन्त्र प्रकृति और मौलिक आदमी ही झूठे सिद्धान्तों के उस ढेर से अपने आपको बचा सकते हैं जो अदालतों, गिर्जों, स्कूलों और समाचार-पत्रों की संयुक्त और सतत सूचनाओं और प्रेरणाओं द्वारा उनके दिलों पर जमता रहता है। हमको गलत रास्ते पर चलाया जाता है ताकि हम गुलाम बने रहें, विद्रोही न हो जायँ।

कुछ हद तक धनिकों के हितों और सर्वसाधारण के हितों में कोई अन्तर नहीं होता है, इसलिए बहुत कुछ तो सत्य ही होता है, किन्तु उसके साथ झूठी शिक्षा भी मिलादी जाती है। फलतः इस प्रकार सत्य के साथ झूठ मिला होने के कारण इस धोखे का पता चलाना और उस पर विश्वास करना और भी कठिन हो जाता है।

सवाल उठ सकता है कि जब ऐसा है तो धनी सहें तो सहें, किन्तु ग़रीब भी यह सब क्यों सहन करते हैं और इसे पूर्ण लाभदायक समाज-नीति मान कर इसका उत्कटतापूर्वक समर्थन करते हैं?

सहने का कारण

किन्तु वह समर्थन सर्वसम्मत नहीं होता, लोकहितैषी सुधारक और असहनीय अत्याचारों द्वारा पीड़ित व्यक्ति उस पर एक या दूसरी जगह आक्रमण करते ही रहते हैं। यदि सामूहिक दृष्टि से उस पर विचार किया जाय तो कहना होगा कि क़ानून, धर्म, शिक्षा और लोकमत को इतना अधिक भ्रष्ट और मिथ्या बना दिया गया है कि साधारण बुद्धि के लोग इस पद्धति से होने वाले

नगण्य लाभों को तो आसानी से समझ लेते हैं, किन्तु उसके वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ पाते। जो आदमी धनिकों के घरों में नौकर रहते हैं वे उन्हें दयालु और सत्पुरुष समझते हैं; क्योंकि वे अपने धनी मालिकों से कभी-कभी वेतन के अलावा कुछ इनाम भी पाते रहते हैं। कोई धनी यश की आकांक्षा से यदि अपने पड़ोसी मध्यमवर्ग के लोगों को कोई भोज दे देता है, या उनके लिए कोई पुस्तकालय खोल देता है, या कुंआ-बावड़ी बनवा देता है, या एक धर्मशाला खड़ी कर देता है, या किसी स्कूल या अन्य सार्वजनिक संस्था के लिए कुछ धन दे देता है तो धनिकों की उस हृदयहीनता, अनुदारता और शोषक-वृत्ति (जिनसे कि धनी धनी बनते हैं) अपरिचित लोग कहते हैं कि वे बड़े दयालु, हैं, बड़े दानी हैं, बड़े उदार हैं! धनिकों के राग-रंगों से शहरों और कस्बों में जो चुहल होती है लोग उसमें बखुशी शामिल होते हैं और जगह-जगह उसकी चर्चा करते हैं। यहां धनिकों का प्रचुर व्यय सदा लोक-प्रिय होता है। धनी घरानों में काम करने वाले नौकर अपने मालिकों की इन फ़िज़ूलख़र्चियों पर और उनके यहां अपने नौकर होने पर गर्व करते हैं और बेचारे भोले-भाले ग़रीब लोग उनके इन राग-रंगों की चकाचौंध में असलियत को देख नहीं पाते। वे नहीं समझ सकते कि इन धनिकों की फ़िज़ूलख़र्ची और शौक़ीनी को पूरा करने के लिए उनमें से कितनों ही के मुंह के कौर छीन लिए जाते हैं और उनके शरीरों पर के चिथड़े उतार लिए जाते हैं। नियम यह है कि जबतक सब लोगों को मनुष्योचित खाना न मिल जाय तब-तक कोई इस तरह भोजन बर्बाद न करे और जबतक सबके शरीर न ढँक जाएं तबतक कोई हीरे, मोती और जेवर न पहिने। धनी लोग अपने को अन्य लोगों से सुखी देख कर सन्तोष मान सकते हैं, किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि ग़रीबों के दुखों के असह्य हो जाने पर उनके हृदयों की आग कभी नहीं धधक उठेगी।

हमारे इस नीति के साथ चिपटे रहने का एक कारण यह भी है कि हम किसी मौके से धनी बन जाने के स्वप्न देखा करते हैं और सोचते हैं कि तब हम भी ऐसा ही करेंगे। हम अपने एक अनिश्चित लाभ की

तृष्णा में उन लाखों हानियों को भूल जाते हैं जो लाखों-करोड़ों अभागों को उठानी होती हैं।

कुछ ग़रीब लोग ऐसे भी होते हैं जो आशा करते हैं कि उनके बच्चे शिक्षा पाकर किन्हीं ऊंचे ओहदों पर नौकर हो जायंगे और दरिद्रता की कीचड़ से निकल सकेंगे। जैसे-तैसे उन्हें पढ़ाते हैं या उनके कुछ बच्चे छात्रवृत्तियां प्राप्त कर लेते हैं और पढ़-लिख कर बड़े हो जाते हैं। किन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद ही होते हैं। वे सामान्य लोगों को आशा का कोई सन्देश नहीं देते और दुनिया में सामान्य लोग ही ज़्यादा रहते हैं। साधारण धनी का बच्चा और साधारण ग़रीब का बच्चा दोनों समान स्वस्थ मस्तिष्क ले कर जन्म ले सकते हैं, किन्तु युवा होते-होते एक का मस्तिष्क शिक्षा मिलने से विकसित हो चुकता है, वह उससे योग्यता का कोई भी काम कर सकता है। किन्तु दूसरे को कोई ऐसी नौकरी भी नहीं मिल सकती कि वह सुसंस्कृत मनुष्यों के सम्पर्क में भी रह सके। इस तरह देश की बहुत सी मस्तिष्क-शक्ति नष्ट होती है। यह ठीक है कि अच्छे मस्तिष्क सभी को नहीं मिलते, किन्तु वे थोड़े से धनिकों में से जितने बच्चों को मिलते हैं उनसे कई गुने अधिक बच्चों को ग़रीबों में से मिलते हैं; क्योंकि वे धनिकों की अपेक्षा कई गुने हैं, किन्तु आय की असमानता के कारण उनका विकास नहीं हो पाता। परिणाम यह होता है कि योग्यता के सारे कामों में उनकी जगह बिना योग्य-अयोग्य का ख़याल किए धनिकों को ही भर दिया जाता है जो ग़रीबों पर हुकुम चलाने की आदत सीखे होते हैं।

: ६ :

समान आय की आपत्तियां

राष्ट्रीय आय को सब लोगों में समान रूप से विभाजित करना सम्भव है, इसमें शक करने की गुंजाइश नहीं है। कारण, दीर्घकालीन

क्या समान आय सम्भव है?

प्रयोग द्वारा उसकी परीक्षा हो चुकी है। सभ्य दुनिया के दैनिक काम का अधिकांश हिस्सा समान वेतन पाने वाले व्यक्ति-समूहों द्वारा सम्पन्न होता है, सदा हुआ है और आगे भी हमेशा होना चाहिए। वे लम्बे हों या नाटे, गोरे हों या काले, तेज़ हों या धीमे, युवक हों या वृद्धावस्था के किनारे पहुँचे हुए, शराब-विरोधी हों या शराबी, सनातनी हों या सुधारक, विवाहित हों या अविवाहित, क्रोधी हों या शान्त-स्वभाव वाले, सन्यासी हों या दुनियादार—संक्षेप में, उन सब भेदों का जो एक मनुष्य को दूसरे से असमान बनाते हैं, ज़रा भी खयाल नहीं किया जाता। हर व्यवसाय में परिमाणित (Standard) मज़दूरी दी जाती है। हर सार्वजनिक विभाग में कर्मचारियों को परिमाणित वेतन मिलता है और स्वतंत्र पेशे में फ़ीस इस तरह निश्चित की जाती है कि उस धन्धे को करने वाला कुलीनता के एक ख़ास परिमाण के अनुसार जीवन-निर्वाह कर सके। यह परिमाण समस्त धन्धे के लिए एक-सा होता है। पुलिसमैन, सिपाही और डाकियों के वेतन, मज़दूर, खाती और राज की मज़दूरी और न्यायाधीश तथा धारा-सभा के सदस्य के वेतन में अन्तर हो सकता है, उनमें से कुछ को साल में तीस रुपये से भी कम और कुछ को पाँच हज़ार से भी अधिक मिल सकता है, किन्तु सब सिपाहियों को एक-सा वेतन मिलता है, न्यायाधीशों और धारा-सभा के सदस्यों के लिए भी वही बात है। यदि किसी डाक्टर से पूछा जाय कि वह पांच रुपये, दस रुपये, पचास रुपये या पांच सौ रुपये के बजाय चार रुपये, दो रुपया, एक रुपया या आठ ही आना फ़ीस क्यों लेता है तो वह सिवा इसके और कोई अच्छा कारण न बता सकेगा कि मैं वही फ़ीस लेता हूं जो दूसरे डाक्टर लेते हैं और दूसरे डाक्टर इतनी फ़ीस इसलिए लेते हैं कि उससे कम में वे अपनी स्थिति क़ायम नहीं रख सकते।

जब हमें कोई अविवेकी व्यक्ति तोते की भाँति यह दुहराता हुआ मिले कि यदि हरएक को बराबर रुपया देंगे तो भी साल भर के भीतर-भीतर वे पहिले की तरह धनी और ग़रीब होजायँगे, तो उसे केवल

इतना ही कह देना चाहिए कि वह अपने चारों ओर देख ले, उसे समान वेतन पाने वाले ऐसे लाखों आदमी मिलेंगे जो जीवनभर उसी अवस्था में रहते हैं, उसमें वैसा कोई परिवर्तन नहीं होता। ग़रीब आदमियों के धनी बनने के उदाहरण बहुत कम होते हैं और, यद्यपि धनी आदमियों के ग़रीब बनने के उदाहरण सामान्य होते हैं, किन्तु वे भी कभी-कभी ही होते हैं। नियम यह है कि एक ही दर्जे और पेशे के मजदूरों को समान वेतन मिलता है और उनकी स्थिति न गिरती है न बढ़ती है। वे एक-दूसरे से कितने ही भिन्न क्यों न हों उनमें से एक को दो रुपये और दूसरे को आठ आना इस विश्वास के साथ दिया जा सकता है कि इससे उनकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। हां, यह हो सकता है कि कोई बड़ा भारी धूर्त या बड़ा भारी प्रतिभावान पुरुष दूसरों की अपेक्षा बहुत अधिक धनी या बहुत अधिक दरिद्र होकर हमें आश्चर्य-चकित कर दे। ईसामसीह ने शिकायत की है कि "मैं लोमड़ियों और पक्षियों से भी अधिक ग़रीब हूं। कारण, उनके रहने के लिए बिल और घोंसले तो होते हैं, मेरे पास आश्रय पाने के लिए मकान तक नहीं है। नेपोलियन तो सम्राट बन गया! किन्तु अपनी सामान्य योजना बनाते समय हमें ऐसे असाधारण पुरुषों का उससे अधिक ख़याल नहीं करना चाहिए जितना तैयार कपड़ों का बनाने वाला अपनी मूल्य-सूची बनाते समय बहुत लम्बे और बहुत नाटे आदमियों का करता है। हमें विश्वास के साथ इस बात को व्यावहारिक अनुभव द्वारा निर्णीत मान लेना चाहिए कि यदि हम देश के समस्त निवासियों में आय को समान रूप से विभाजित करने में सफल हो जायं तो जिस प्रकार डाकियों में अपने समुदाय को भिखमंगों और लखपतियों में बांटने की प्रवृत्ति नहीं है वैसे ही उनमें भी अपने आप को धनिकों और कंगालों में बांटने की ज़रा भी प्रवृत्ति नहीं होगी। नवीनता केवल इतनी सी चाही जाती है कि पोस्टमास्टर को जितना मिलता है उतना ही डाकियों को भी मिले और पोस्टमास्टरों को और किसी से कम न मिले। यदि हमको मालूम पड़े कि जैसा पड़ता है कि सब न्यायाधीशों को बराबर वेतन देने और सब जहाज़ी कप्तानों को

बराबर वेतन देने से काम चल सकता है तो फिर जहाज़ी कप्तानों से न्यायाधीशों को पांच गुना अधिक क्यों दिया जाय ? यही तो जहाज़ी कप्तान जानना चाहेगा ! यदि उसे यह कह दिया जाय कि यदि न्यायाधीश के बराबर वेतन दिया जायगा तो भी वह साल ख़त्म होने से पेश्तर उतना ही ग़रीब होगा जितना कि पहिले था, तो वह उत्तर में बहुत ही कटु और भद्दी भाषा का प्रयोग करेगा।

तो समान विभाजन केवल क्षण भर के लिए ही नहीं, बल्कि स्थायी तौर पर भी बिल्कुल सम्भव और व्यावहारिक है। वह सादा और समझ में आने योग्य भी है। वह मानव-प्राणियों में प्रचलित और सुविदित है। हरएक को कितना मिले, इस विषय के सब विवादों का भी वह ख़ात्मा कर देता है।

समान आय में योग्य व्यक्तियों के लिए उनकी योग्यता के यथार्थ प्रदर्शन का अधिक अवसर होता है, इसीलिए उन्हें उसके कारण उचित महत्व भी मिल जाता है। किन्तु आय की भिन्नता के कारण दो आदमियों
की योग्यता का अन्तर जितना छिपता है उतना और
क्या योग्यता का किसी कारण से नहीं छिपता। उदाहरण के लिए एक
ख़याल नहीं कृतज्ञ राष्ट्र है जो किसी महान् अन्वेषक, आविष्कर्त्ता
, करेंगे ? या सेनापति को अपनी धारा-सभा द्वारा २० हज़ार
रुपया देने का निश्चय करता है। पुरस्कार पाने वाला
उसकी घोषणा सुनकर ख़ुश होता हुआ अपने घर को जाता है, किन्तु बीच में ही उसे कोई कुप्रसिद्ध मूर्ख, अथवा निन्दनीय विलासी या कोई साधारण चरित्र वाला मनुष्य मिल सकता है जिसके पास न केवल २० हज़ार रुपया ही हों, बल्कि जिसकी २० हज़ार रुपये की आय और हो। उस महान् व्यक्ति को २० हज़ार रुपये से वर्ष भर में केवल १ हज़ार रुपया ही प्राप्त होगा और इस कारण वह बेचारा समाज में व्यापारियों, धनपतियों और मिथ्याभिमानियों द्वारा भुक्कड़ ही समझा जायगा। इन धनपतियों के पास उसकी अपेक्षा कई गुना धन मिलेगा। कारण, उन्होंने पूर्ण स्वार्थपरता के साथ, सम्भवतः दुर्व्यसनों द्वारा या अपने देशवासियों की

श्रद्धालुता से अनुचित लाभ उठाकर, रुपया कमाने के अतिरिक्त अपने जीवन में और कुछ नहीं किया। एक आदमी है जो खराब चीज़ें बेच कर या खरीदी हुई चीज़ों पर दूना-तिगुना मुनाफ़ा लेकर या झूठे विज्ञापनों के प्रचार के लिए बेहूदा पत्र और पत्रिकाओं को रुपया दे कर धूर्तता से तीस-चालीस लाख रुपये का मालिक बन बैठा है। ऐसे आदमी का आदर-सम्मान किया जाता है, उसे पार्लमेंण्ट में भेजा जाता है और लार्ड बना दिया जाता है। दूसरी ओर ऐसे आदमी हैं जिन्होंने मानव-ज्ञान की वृद्धि के लिए या मानव-हित के लिए अपनी सर्वश्रेष्ठ शक्तियों का उपयोग किया है या अपने जीवन तक को ख़तरे में डाल दिया है। किन्तु उनके पैसों और उपयुक्त धनवानों के रुपयों की तुलना कर उनका महत्व कम किया जाता है। यह कितना बुरा है।

जहाँ आर्थिक समानता हो वहीं योग्यता का अन्तर स्पष्ट हो सकता है। यदि पदवियाँ, आदर-सम्मान और ख्याति रुपये द्वारा ख़रीदी जा सकें तो उनसे लाभ के बजाय हानि ही अधिक होगी। इंग्लैण्ड की रानी विक्टोरिया ने कहा था कि जिसके पास पदवी धारण करने जितना रुपया न होगा उसे पदवी नहीं दी जा सकेगी। किन्तु इसका फल यह हुआ कि पदवियाँ सर्वश्रेष्ठ लोगों को नहीं, धनिकों ही को मिलीं। एक हज़ार रुपया सालाना पाने वाले मनुष्य को केवल सौ रुपया पाने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अनिवार्यतः प्राधान्य मिल जाता है चाहे वह उससे कितना ही हीन क्यों न हो।

समान आय वाले व्यक्तियों में योग्यता के भेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं होता। वहां रुपये का कोई मूल्य नहीं होता, चरित्र, आचरण और क्षमता ही सबकुछ माने जाते हैं। सब मज़दूरों को मजदूरी के निम्न परिमाणों पर लाने और सब धनिकों को आय के शौकीनी परिमाणों पर ले जाने के बजाय समान आय की पद्धति में हरएक अपने को स्वाभाविक सम सतह पर स्थित पायगा। उस समय महान व्यक्ति और ओछे आदमी सभी होंगे, किन्तु महान व्यक्ति वे ही होंगे जो बड़े काम करेंगे। वे मूर्ख नहीं जिनको माता-पिताओं के आवश्यकता से अधिक

लाड़-प्यार ने बिगाड़ दिया हो और जो उनके लिए १ लाख रुपया वार्षिक छोड़ गये हों। संकुचित विचार और नीच चरित्र के लोग ओछे आदमी कहलायेंगे, न कि वे ग़रीब जिन्हें जीवन में एक भी अवसर नहीं मिलता है।

यह सच है कि ऐसे लोग हैं जो काम करते हुए हर क्षण नाक-भौं सिकोड़ते रहते हैं, किन्तु इस कारण उन्हें अपने हिस्से के काम से मुक्त नहीं किया जा सकता। जो आदमी अपने हिस्से से कम काम करता है और फिर भी श्रम द्वारा उत्पन्न सम्पत्ति का अपना पूरा हिस्सा लेता है, वह चोर है। उसके साथ भी वही व्यवहार होना चाहिए जो अन्य किसी प्रकार के चोरों के साथ होता है।

क्या काम की प्रेरणा मिलेगी?

किन्तु कोई गोबर-गणेश कह सकता है कि मुझे काम से घृणा है। मैं कम लेने को तैयार हूं और दरिद्र, गन्दा, चिथड़ैल और नङ्गा तक रह लूंगा, थोड़ा काम लेकर मेरा पिंड छोड़ दो! किंतु ऐसा नहीं होने दिया जा सकेगा, क्योंकि सामाजिक दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की गई दरिद्रता उतनी ही हानिकारक है जितनी बाहर से लादी गई दरिद्रता।

अधिक काम—समान आय में समान श्रम ही अभीप्सित है, इसलिए यह सोचना तो व्यर्थ है कि जब एक को दूसरे से अधिक नहीं पाने दिया जायगा तो उसको अधिक श्रम करने की प्रेरणा न मिलेगी। किन्तु जिनको काम किए बिना चैन न पड़ता हो यदि वे आत्म-तुष्टि के लिए अतिरिक्त काम चाहें तो उन्हें फिर यह ढोंग नहीं करना चाहिए कि यह उनके लिए अधिक कष्टकर है, इसलिए इसके लिए उन्हें पैसा देना चाहिए। यह होना चाहिए कि वे अपनी अतिरिक्त शक्ति का अपनी रुचि के कामों में उपयोग करें।

सर्वश्रेष्ठ काम—प्रथम श्रेणी के कार्यकर्त्ताओं से यथाशक्ति सर्वश्रेष्ठ काम करवाने के लिए किसी बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती। उनकी कठिनाई यह है कि वे उसके द्वारा क्वचित ही आजीविका पैदा कर पाते हैं। दूसरे नम्बर के काम के लिये जितना पैसा मिल सकता है,

उतना सर्वश्रेष्ठ काम के लिये पा सकना असम्भव होता है। और जब सर्वश्रेष्ठ काम के लिए कुछ भी नहीं मिलता तो सामान्य काम से आजीविका पैदा करते हुए उसके लिए अवकाश पा सकने की कठिनाई रहती है। लोग उच्चतर काम के लिए जब अपने को योग्य समझते हैं तो क्वचित ही उससे विमुख होते हैं। वे इन्कार तभी करते हैं जब उच्चतर काम के लिए इतना कम वेतन दिया जाता हो या वह उनकी सामाजिक स्थिति के इतना विपरीत हो कि वे उसे न कर सकें। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड की सेना का एक साधारण अफ़सर कभी-कभी कमीशन-पद लेने से इंकार कर देता है। जब वह ऐसा करता है तो उसका कारण यही होता है कि निम्न पद से उच्च पद में वह अधिक ख़र्च और कम आराम समझता है। दोनों पदों में समान आय-व्यय और आराम होने की दशा में वह ख़ुशी से कमीशन-पद स्वीकार करता, क्योंकि उससे उसकी प्रतिष्ठा भी तो बढ़ती है।

गन्दे काम—हम लोगों ने एक ख़याल बना लिया है कि गन्दे कामों को गन्दे और ग़रीब आदमी करते हैं, इसीलिए हम उन्हें करना अपमानजनक समझते हैं। हमारे ख़याल में यदि गन्दे और अपमानित लोगों का एक स्वतंत्रवर्ग न हो तो वह काम हो ही नहीं। यह बेहूदा ख़याल है। पदवीधारी सर्जन और डाक्टर जो सुशिक्षित और सुवेतन-भोगी होते हैं तथा ऊंचे-से-ऊंचे समाज में आते-जाते हैं दुनिया का कुछ गन्दे-से-गन्दा काम करते हैं। नर्सें जो सर्जनों और डाक्टरों की मदद करती हैं सामान्य शिक्षा में बहुधा उनके बराबर और दर्जे में कभी-कभी उनसे भी बढी होती हैं। शहरी दफ्तरों में टाइपिस्टों का काम कहीं स्वच्छतर होता है, किन्तु कोई यह कल्पना भी नहीं करता कि उनकी अपेक्षा उन नर्सों को कम वेतन दिया जाय या उनका कम आदर किया जाय। प्रयोगशालाओं का काम और शरीर-विच्छेदन का काम, जिसमें मृतशरीरों की चीर-फाड और जीवित प्राणियों के रक्त, मल-मूत्र आदि का विश्लेषण करना पड़ता है, एक स्वच्छ गृहस्थी के दृष्टि-बिन्दु से कभी-कभी बहुत ही गन्दा होता है, फिर भी व्यावसायिक

भद्र स्त्री-पुरुष उसको करते ही हैं। हरएक स्वच्छता-प्रेमी जानता है कि गन्दा काम हुए बिना घरों को स्वच्छ नहीं रक्खा जा सकता। बच्चों को पैदा करना और उनका पालन-पोषण करना किसी भी तरह साफ़ काम नहीं है, किन्तु कोई भी यह नहीं कह सकता कि वह अत्यन्त सम्मानपूर्ण नहीं है और न अत्यन्त नख़रेबाज़ शौक़ीन स्त्रियां अवसर आने पर इससे मुंह ही मोड़ती हैं।

किन्तु बहुत सारा काम तो आज इसीलिए गन्दा है कि वह गन्दे लोगों के हाथों बेढंगेपन से होता है। उसी काम को साफ़ सुथरे आदमी साफ़-सुथरे ढंग से कर सकते हैं। प्रयत्न करने पर दुनिया का आवश्यक काम इतनी कम गन्दगी के साथ किया जा सकता है कि जिसे सब श्रेणियों के स्वस्थ लोग सहन कर लेंगे। और सत्य तो यह है कि लोग दरिद्रता और पतन के साथ काम के सम्बन्ध को जितना बुरा समझते हैं, उतना बुरा काम को नहीं समझते। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में कोई भी सभ्य कुलीन अपनी मोटर स्वयं चलाने में कोई आपत्ति न करेगा, किन्तु वह ड्राइवर की पोशाक पहिनना मंज़ूर न करेगा। इसी तरह कोई भी कुलीन महिला अपना घर स्वयं बिना संकोच झाड़-बुहार देगी, किन्तु वह नौकरानी के लिबास को पहिन कर किसी के सामने जाने के बजाय मर जाना मंज़ूर कर लेगी। यद्यपि ड्राइवर और नौकरानी की पोशाकें साफ़-सुथरी होती हैं और कुछ ख़राब भी नहीं दिखतीं; किन्तु उन्हें पहिनने में सभ्य कुलीन को और कुलीन महिला को आपत्ति इसलिए होती है कि वे भूतकाल में निम्न स्थिति की सूचक और असम्मानपूर्ण समझी जाती थीं।

अप्रिय काम—अप्रिय कामों को रुचिकर बनाने की दिशा में बहुत कुछ किया जा सकता है और कुछ से तो बिल्कुल पिंड ही छुड़ाया जा सकता है। यदि उन कामों को करने के लिए दरिद्र और अशिक्षित लोगों का एक वर्ग न होता तो उनसे कभी का पिंड छूट गया होता। ऐसे बहुत से तरीके हैं जिनके द्वारा आज जो काम अरुचिकर हैं वे ऐसे बनाए जा सकते हैं कि सामान्य आवश्यक श्रम करते समय जितनी कठिनाई अनुभव

होती है उससे अधिक कठिनाई उन कामों में अनुभव न होगी । किन्तु जबतक ऐसा नहीं होता तबतक सब लोग वे ही काम करना पसन्द करेंगे जो अधिक सुखकर होंगे, बशर्ते कि उनकी कोई ऐसी ख़ास रुचि न हो जैसी कि किसी ख़ास बलवान आदमी को रोज़ २० मील पैदल डाक ले जाने की होती है, या एक दयावान लडकी की मैले-कुचैले सड़ते हुए रोगी की सेवा करने की होती है।

किन्तु एक उपाय ऐसा मौजूद है कि जिससे विभिन्न व्यवसायों के प्रति समान आकर्षण पैदा किया जा सकता है। वह है अवकाश या स्वतंत्रता। मज़दूर जब काम के दस घंटों के बजाय आठ घन्टों के लिए आन्दोलन करते हैं तो वास्तव में वे १४ घन्टे के बजाय १६ घन्टे का अवकाश चाहते हैं ताकि वे उसमें अपनी रुचि और मनोरंजन के काम तथा पूरा आराम कर सकें। यही कारण है कि हम लोगों को आराम की नौकरी के बजाय, जिस में उनको कभी स्वतंत्रता नहीं मिलती, ऐसी कठिन और कड़ी नौकरी पसन्द करते देखते हैं, जिसमें उन्हें अवकाश का समय थोड़ा अधिक मिल जाता है। कारख़ाने वाले शहरों में (यदि बेकारी न हो तो) बहुधा कुशल और समझदार घरेलू नौकर या तो मिलते ही नहीं या मुश्किल से मिलते हैं। यद्यपि कारख़ाने का काम कड़ा होता है और घरेलू नौकर का आसान, किन्तु कारख़ाने में एक निश्चित समय के बाद वे स्वतंत्र होते हैं; पर घरेलू नौकर का अपना कोई समय नहीं होता। वह हमेशा घन्टी की प्रतीक्षा में द्वार पर बैठा रहता है। तो रुचिकर और सरलतर काम करने वालों की अपेक्षा जिन लोगों को कम रुचिकर और कम सरल काम करना पड़ता है उनकी क्षतिपूर्ति उन्हें अधिक अवकाश देकर जल्दी पैन्शन-भोगी वर्ग में दाख़िल करके, अधिक छुट्टियां देकर की जा सकती है। ऐसा होने पर कम रुचिकर कामों के लिए कम अवकाश देने वाले अधिक रुचिकर कामों की भांति लोग मिलने लगेंगे।

मनोरंजक काम—कुछ काम तो परिस्थितियों के कारण मनोरंजक होते हैं जैसे बहुत तेज़ी से न चलने वाले कारख़ानों का काम जो रसोई घर में बैठे-बैठे रोटियां पकाते रहने के काम से अधिक सामाजिक होता

है। यही कारण होता है कि उद्योग-प्रधान देशों की लड़कियां घरेलू काम की बनिस्बत कोलाहल-पूर्ण कारखानों के काम को अधिक पसन्द करती हैं। नहरों, रेल की लाइनों, सड़कों आदि पर काम करने वाले लोगों का काम खुले में होने के कारण कठिन होने पर दफ्तर की क्लर्की से अधिक मनोरंजक होता है। किन्तु कुछ काम स्वतः ही मनोरंजक और आनन्ददायक होते हैं जैसे तत्त्वज्ञानियों और भिन्न-भिन्न कलाकारों के काम। ये लोग बिल्कुल ही काम न करने के बजाय बिना किसी आर्थिक लाभ का विचार किए काम करेंगे। किन्तु समान विभाजन की पद्धति के अधीन यह अनिवार्य श्रम का नहीं, सम्भवतः अवकाश का फल होगा।

आजकल कितने ही मनोरंजन व्यर्थ थका देने वाले और मूर्खता-पूर्ण होते हैं, किन्तु उन्हें क्लेशपूर्ण श्रम की नीरसता मिटाने और परिवर्तन की खातिर लोग सहन कर लेते हैं। कार्नवाल लुई ने तो कहा है कि यदि ये व्यर्थ के मनोरंजन न होते तो जीवन अधिक सुखमय होता। कार्नवाल लुई में यह समझ सकने की बुद्धि थी कि ये शहरी मनोरंजन मनोरंजन नहीं करते और रुपये की बर्बादी करते हैं और स्वभाव को बिगाड़ देते हैं। एक स्वस्थ पुरुष के लिए समय बर्बाद जाने से बढ़कर और कोई खराब बात नहीं हो सकती। हम देखते हैं कि स्वस्थ बालक जबतक थक नहीं जाते तबतक कुछ-न-कुछ बनाने या करने का प्रयास करते हैं। हम भी अपना समय बिताने और स्नायु समूह और मन को गति देने के लिए ऐसा श्रम करना चाहते हैं जिसमें कुछ आनन्द और अनुराग भी हो।

हमको श्रम और अवकाश का अ   श और आराम का अन्तर भी जान लेना चाहिए। श्रम वह जो हमें करना चाहिए, अवकाश वह जिसमें हम यथारुचि काम करें और आराम वह जिसमें कुछ न किया जाय, मन और शरीर को थकान उतारने दी जाय। बहुधा हमारी रुचि का काम भी उतना ही श्रमकारक होता है जितना वह काम जो हमें करना चाहिए। जैसे फुटबाल या हाकी के खेल हैं। दूसरों को काम

करते हुए देखना, लिखने की तरह नहीं, पुस्तक पढ़ने की तरह आराम करना है। किन्तु अनिवार्य श्रम के अलावा (जिसका न करना अपराध माना जायगा) जो सम्भवतः दो-तीन घण्टे का ही रह जायगा, जो अवकाश हमें मिलेगा, उसमें हम न तो फुटबाल या हाकी ही खेलते रहेंगे और न दूसरों को काम करता हुआ ही देखते रहेंगे, न स्वयं पुस्तक ही पढ़ते रहेंगे। उसमें हम अपने मनोरंजन की ख़ातिर राष्ट्र-हित का बहुत सारा काम ऐसा कर देंगे जिसे आज प्रेम या रुपये की ख़ातिर नहीं कराया जा सकता। अपने प्रिय-कार्यों में कितने ही लोग तो इतने व्यस्त रहते है कि उससे उनके स्वास्थ्य बिगड़ जाते हैं और वे जल्दी ही मर भी जाते हैं, इसलिए तत्ववेत्ता हर्बर्ट स्पैन्सर ने कहा कि लोगों को काम के पीछे पागल भी न बन जाना चाहिए।

आय के समान विभाजन के विरुद्ध एक और मूल आपत्ति यह है है कि उसके लाभ यदि होंगे तो शीघ्र ही कई बच्चों वाले दम्पति उन्हें हड़प कर जायेंगे। इसका तो यह अर्थ हुआ कि वे यह मानकर चलते हैं कि दुनिया में वर्तमान दरिद्रता का कारण आबादी की अधिकता है अर्थात् आज की दुनिया में जितने लोग रहते हैं पृथ्वी उतनी खाद्य सामग्री पैदा नहीं करती।

क्या समान आय में अधिक आबादी का गुज़र होगा ?

यदि थोड़ी देर के लिए इसे सत्य भी मान लें तो भी इससे आय के समान विभाजन की आवश्यकता नहीं है, यह सिद्ध नहीं होता। कारण, जितनी कम सामग्री हो, उसका समान विभाजन उतना ही अधिक आवश्यक हो जाता है जिससे वह यथा-सम्भव सर्वत्र पहुँचाई जा सके और कमी की बुराइयों के अलावा असमानता की बुराइयाँ पैदा न हों। किन्तु यह सच नहीं है। दरिद्रता का कारण 'अत्यधिक आबादी और कम उत्पत्ति नहीं है, बल्कि यह है कि लोग जो सम्पत्ति और अवकाश पैदा करते हैं उसका इतना असमान विभाजन होता है कि जन-संख्या का कम-से-कम आधा भाग अपनी आजीविका स्वयं पैदा करने के बजाय दूसरे आधे भाग के श्रम पर जीवन-निर्वाह करता है।

इंग्लैण्ड में मई महीने का उत्सव होता है तो एक युवा दम्पति का जो अत्यन्त धनी समाज में रहता है नौ नौकरों के बिना काम नहीं चलता, चाहे उनके एक भी बच्चा न हुआ हो। फिर भी वहाँ हरएक आदमी जानता है कि जिन अभागे युवकों को नौ नौकरों के रहने का प्रबन्ध करना पड़ता है और उनके बीच शान्ति क़ायम रखनी होती है, उनकी अपेक्षा एक नौकर रखने वाले या अधिक-से-अधिक दो नौकर रखने वाले अधिक सेवा-शुश्रूषा पाते हैं और अपने घरों में अधिक आराम से रहते हैं। कारण, धनी समाज में रहने वाले युवक के नौकर अपने मालिक का काम करने के बजाय अधिकतर एक-दूसरे का काम करते रहते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि लोकरीति के ख़याल से वहाँ किसी के लिए ख़ानसामा और चपरासी आवश्यक हों ही तो उसे उनके भोजन पकाने और बिस्तर करने के लिए भी किसी को रखना पड़ेगा। घर की मालिकिन को सेवा की जितनी ज़रूरत होती है उतनी ही प्रधान नौकरानियों और परिचारिकाओं को भी, क्योंकि वे अपने काम के अलावा और किसी काम को हाथ न लगाने का बहुत अधिक ख़याल रखती हैं। इसलिए यह कहना ग़लत है कि घर में दो आदमियों का काम करने के लिए नौ आदमियों का होना हास्यास्पद है। वास्तव में घर में ग्यारह आदमियों का काम होता है। और वह सब नौ आदमियों को आपस में करना पड़ता है। यही कारण है कि वे लोग नौ नौकर होने पर भी बराबर शिकायत करते रहते हैं कि उनसे उनका काम नहीं चलता! वे अल्प समय के लिए और नौकर, फुटकर काम करने वाले दर्ज़ी और ख़बर ले जाने वाले लड़के बढ़ाते रहते हैं। यहाँ तक कि साधारण संख्या और असाधारण आय वाले कुटम्बों के यहाँ तीस-तीस नौकर इकट्ठे हो जाते हैं; किन्तु वे सब कम या अधिक एक-दूसरे का काम करते रहते हैं, फलतः नौकरों की सदा कमी बनी रहती है!

यह स्पष्ट है कि ये झुंड-के-झुंड नौकर अपना निर्वाह स्वयं नहीं करते। उनका मालिक उनका निर्वाह करता है और यदि वह मालगुज़ारी और कम्पनियों में लगी हुई अपनी पूँजी के हिस्सों के मुनाफ़ों पर गुज़र करने

वाला आलसी धनिक है अर्थात् उसका निर्वाह किसानों और कम्पनियों के कारखानों में काम करने वाले मज़दूरों के श्रम से होता है तो वह, उसके नौकर तथा अन्य कारबारी लोग स्वाश्रयी, स्वावलम्बी नहीं होते। उनके रहने के लिए दुनिया आज से दस गुनी बड़ी बना दी जाय तो भी वे स्वावलम्बी नहीं होंगे! इस तरह आज की दुनिया में बहुत अधिक आदमी होने के बजाय बहुत अधिक आलसी हैं और बहुत सारे काम करने वाले इन आलसियों की हाज़िरी में रहते हैं। यदि इन आलसियों और काम करने वालों को उपयोगी कामों पर लगा दिया जाय तो हमें यह आवाज़ बहुत समय तक सुनाई न देगी कि दुनिया में आबादी बहुत बढ़ गई है। सम्भव है कि वह फिर सुनाई भी न दे।

इसी बात को इस तरह भी समझाया जा सकता है। कल्पना कीजिए २० आदमी हैं जिनमें से हरएक अपने श्रम द्वारा १०० गिन्नी सालाना पैदा करता है और स्वेच्छा से या क़ानून से विवश होकर ५० अपने जमींदार को देना स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार मालिक को काम के लिए नहीं, ज़मीन का मालिक होने के कारण १००० गिन्नी सालाना की आय होगी। इसमें से ५०० वह अपने पर खर्च कर सकता है जिससे वह उन बीस आदमियों में से किसी की भी अपेक्षा बीस गुना धनी हो जायगा। शेष ५०० गिन्नी में ६ आदमियों और १ लड़के को ७५ गिन्नी सालाना पर नौकर रख सकता है जो उसकी हाजिरी बजाएं और जब कभी उन बीस आदमियों में से कोई बग़ावत करने का प्रयत्न करे और ५० गिन्नियाँ न दे तो उसको दबाने के लिए हथियारबन्द टुकड़ी का काम भी दें। ये ६ आदमी ५० गिन्नी आय वाले आदमियों का पक्ष नहीं लेंगे। कारण, उन्हें ७५ गिन्नियां मिलती हैं। उनमें इतनी बुद्धि भी नहीं होती कि वे सब मिलकर मालिक को उखाड़ फैंकें और कुछ उपयोगी काम करें जिससे कि उनमें से हरएक १०० गिन्नियाँ पैदा कर सके।

यदि हम २० श्रमिकों और ६-७ नौकरों को लाखों से गुणा करें तो हम को हरएक देश की वर्तमान व्यवस्था की मूल योजना मालूम हो

जायगी। सब जगह मालिकों का एक दल है जिनकी सम्पत्तियों की रक्षा के लिए पुलिस और फ़ौजें हैं, आज्ञा-पालन के लिए बड़ी तादाद में नौकर हैं, उनके आराम की चीज़ें बनाने के लिए झुंड-के-झुंड मज़दूर हैं और इन सबका निर्वाह वस्तुतः उपयोगी श्रम करने वाले मज़दूरों के श्रम से होता है जिन्हें स्वयं अपना निर्वाह भी करना होता है। जन-संख्या की वृद्धि किसी देश की सम्पत्ति में वृद्धि करेगी या दरिद्रता में, यह पृथ्वी की प्राकृतिक उपज-शक्ति पर निर्भर नहीं है, बल्कि इस बात पर निर्भर है कि अतिरिक्त लोगों को उपयोगी श्रम पर लगाया जाता है या नहीं। यदि वे उपयोगी श्रम पर लगाये जायंगे तो देश की सम्पत्ति बढ़ेगी और यदि वे निरुपयोगी श्रम पर लगाये जायगे, अर्थात् वे सम्पत्तिवानों के नौकर बनाये जायंगे, या उनके अधिकारों के सशस्त्र संरक्षक बनाये जायंगे या उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अन्य किसी व्यवसाय या कार्य में लगाये जायंगे तो देश और भी दरिद्र होगा। सम्पत्तिवान और भी धनी हो सकते हैं और उनके नौकरों को भी अधिक वेतन मिल सकता है, किन्तु ये बातें देश की दरिद्रता को न रोक सकेंगी।

श्रम-विभाजन के कारण यह स्वाभाविक है कि जितनी अधिक जन-संख्या होगी उतना ही देश अधिक धनी होगा। श्रम के विभाजन का अर्थ यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के काम भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों द्वारा हों, क्योंकि इस तरह लोग अपने-अपने कामों में बहुत कुशल हो जाते हैं। कारण, उन्हें उस काम के अलावा और कोई काम नहीं करना पड़ता। इसके अलावा उनके काम को दूसरे लोग संचालित भी कर सकते हैं जो अपना सारा दिमाग़ इसी दिशा में खर्च करते हैं। इस तरह से जो समय बचे उसका मशीनें, सड़कें, तथा अन्य साधन बनाने में उपयोग किया जा सकता है ताकि आगे चल कर और समय तथा श्रम बच सके। इस उपाय से बीस आदमी दस आदमियों की अपेक्षा दुगुने से अधिक और सौ आदमी बीस आदमियों की अपेक्षा पंचगुने से कहीं अधिक पैदा कर सकते हैं। यदि सम्पत्ति और उसके लिए होने वाले

श्रम का समान विभाजन हो तो दस आदमियों की बस्ती की अपेक्षा सौ आदमियों की बस्ती कहीं अधिक अच्छी दशा में रह सकती है। यही नियम करोड़ों की आधुनिक बस्तियों पर भी लागू होता है । किन्तु यदि उनकी हालत अच्छी नहीं है तो इसका कारण यह है कि आलसी लोग और उनके आश्रित उपयोगी श्रम करने वालों को लूटते रहते हैं।

किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि समान आय होने की दशा में हरएक व्यक्ति की सम्पत्ति सदा बढ़ती ही रहेगी, क्योंकि योग्य परिस्थितियां मिलने पर मानव-प्राणी अपनी संख्या बड़ी जल्दी बढ़ा लेते हैं। यदि आने वाली पीढ़ियां अपना काम इस तरह से करें कि युद्ध, प्लेग और अकाल मृत्यु का सामना न करना पड़े तो केवल ४०० वर्षों के भीतर ही केवल एक ही दम्पति की दो करोड़ प्रजा जीवित मिल सकती है। इस समय जितने दम्पत्ति जीवित हैं यदि वे इस क्रम से बढ़ें तो निस्सन्देह शीघ्र ही पृथ्वी पर अन्न पैदा करने के खेत तो क्या खड़े रहने तक के लिए स्थान भी न मिलेगा। पृथ्वी से एक सीमा तक ही खाद्य-सामग्री पैदा की जा सकती है। यदि जनसंख्या की वृद्धि की कोई सीमा न हो तो अन्त में हम को विदित हो जायगा कि अधिक प्राणी पैदा करके हम भोजन के अपने हिस्से को बढ़ाने के बजाय घटा रहे हैं। इससे यह परिणाम निकला कि किसी-न-किसी दिन हमको यह तय करना पड़ेगा कि पृथ्वी पर ठीक तरह से अधिक-से-अधिक इतने मनुष्य रह सकते हैं।

किन्तु बच्चे पैदा करने में स्त्रियों को गर्भ धारण, प्रसव-वेदना, मृत्युभय और अस्थायी असमर्थता का सामना करना होता है और पुरुष को अपनी मर्यादित आमदनी का, इसीलिए लोग अपने कुटुम्बों को सीमित रखते हैं। यह दूसरी बात है कि वे उन्हें सीमित रखना न जानते हों या अप्राकृतिक साधनों द्वारा सन्तति-नियमन को धर्म-विरुद्ध समझते हों।

जब हम सन्तानोत्पत्ति और बच्चों के पालन-पोषण के विषय में ख़याल करते हैं तो हमें मालूम होता है कि समान आय में बच्चों का भार माँ-बापों पर नहीं डाला जा सकेगा। यदि हम डालेंगे तो परिणाम

यह होगा कि जिन लोगों के ज्यादा बाल-बच्चे होंगे वे जल्दी ग़रीब हो जायेंगे। इसलिए आय के समान-विभाजन की पद्धति में बालक जन्म के साथ ही आय के अपने हिस्से का अधिकारी हो जायगा और उससे ठीक प्रकार से पाला-पोसा जा सकेगा।

किन्तु यह सम्भव हो सकता है कि ऐसी सुखपूर्ण परिस्थितियों के कारण, जबकि शादियाँ जल्दी-जल्दी होंगी और वर्तमान भयङ्कर बाल-मृत्युओं का भी लोप हो जायगा, जन-संख्या में वाञ्छनीय से भी अधिक वृद्धि हो जाय अथवा वृद्धि बहुत शीघ्र गति से हो जो अत्यधिक वृद्धि के समान ही असुविधाजनक होती है। उस अवस्था में हमें जन-संख्या को जान-बूझकर नियमित रखना आवश्यक हो जायगा।

इस समय जबकि आय का विभाजन असमान रूप से होता है जन-संख्या किस प्रकार सीमित रक्खी जाती है? उसे सीमिति रखने के वर्तमान उपाय अत्यन्त दुष्टतापूर्ण और भयानक हैं। उनमें युद्ध, महामारी दरिद्रता आदि का समावेश होता है। दरिद्रता के कारण लाखों बच्चे एक वर्ष की अवस्था के पहिले ही आहार, वस्त्र और निवासस्थान की योग्य व्यवस्था के अभाव में मर जाते हैं। सन्तति-नियमन के अप्राकृतिक साधनों से पश्चिम के फ्रांस आदि कितने ही देशों की जन-संख्या शोचनीय रूप से घट रही है। भ्रूण-हत्या की पापमय प्रथा भी प्रचलित है। पूर्वीय देशों में बच्चों की विशेषतः कन्याओं को खुले में मरने के लिए छोड़ देने की घटनायें अभी तक होती हैं। दयावान हज़रत मुहम्मद अरबों को इस दुष्कृत्य से रोकने के लिए ही कह गये हैं कि 'क़यामत के दिन परित्यक्त कन्यायें उठ बैठेंगी और पूछेंगी कि उन्होंने क्या अपराध किया था।' किन्तु एशियाई देशों में अब भी बच्चे खुले में छोड़ दिये जाते हैं। जन-संख्या सीमित रखने के इन सब उपायों में सन्तति-नियमन के अप्राकृतिक साधन ही ज्यादा अच्छे हैं; क्योंकि बच्चों को पैदा करने और इस तरह मार डालने के बजाय तो यह अच्छा है कि चाहे जिन साधनों से काम लिया जाय और बच्चे पैदा ही न किए जायँ।

दुनिया में अब भी बहुत सारा स्थान ख़ाली है, किन्तु आय के समान

विभाजन ने समय से पूर्व ही सन्तति-नियमन का प्रश्न हमारे सामने उपस्थित कर दिया है। कनाडा और आस्ट्रेलिया में बहुत सा स्थान खाली पड़ा मालूम होता है, किन्तु वहाँ के लोग कहते हैं कि वह अनुपयोगी स्थान बसने योग्य नहीं है। जापान में आबादी बहुत बढ़ गई है, इसलिए जापानी कह सकते हैं कि अच्छा, तुम उसमें नहीं बसते हो तो उसमें हम बस जायँगे। किन्तु वे इंग्लैण्ड की सैनिक धाक के कारण ऐसा कहने का साहस नहीं करते। जहाँ सन्तति-नियमन का धर्म-संस्थाओं द्वारा घोर विरोध होता है वहाँ भी उसका प्रचार है या हो रहा है। केवल एक ही उपाय है जिसके द्वारा उस पर अंकुश लग सकता है। वह है, अस्वाभाविक दरिद्रता का नाश जिसने कि उसे समय से पहिले जन्म दिया है। आय का सान विभाजन दरिद्रता का नाश कर सकता है।

यह कोई नहीं कह सकता कि समय आने पर जनसंख्या पर आवश्यक प्रतिबन्ध किस प्रकार लगाया जायगा। सम्भव है प्रकृति ही इस समस्या को हल कर दे। हम देखते हैं कि पैदा हुए बच्चों की संख्या आवश्यकतानुसार कम या अधिक होती है। यह उस सम्भावना की सूचक है। जब बालकों को ऐसे खतरों और कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है कि उनमें से बहुत कम के जीवित बचने की आशा की जा सकती है उस समय प्रकृति बिना किसी हस्तक्षेप के इतनी अधिक संख्या में बच्चे पैदा करती है कि मानव-जाति का पूर्णतः लोप न हो जाय। दरिद्र, क्षुधित, कमज़ोर और विकार-युक्त लोगों में (जिनके बच्चे छोटी अवस्था में ही बड़ी तादाद में मर जाते हैं) अधिक बच्चे पैदा होते हैं।

यदि प्रकृति अत्यधिक मरण से प्राणियों का लोप न होने देने के लिए उत्पत्ति में वृद्धि कर सकती है तो हमें इसमें क्यों सन्देह होना चाहिए कि वह अत्यधिक आबादी के कारण होने वाले प्राणियों के नाश को रोकने के लिए उत्पत्ति कम भी कर सकती है? जो लोग यह कहते हैं कि यदि हम दुनिया की दशा सुधार देंगे तो उसमें आवश्यकता से अधिक आबादी बढ़ जायगी, वे प्रकृति के उस रहस्यमय ढंग को नहीं समझते।

किन्तु समाजवादी लोग भी निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकते कि समाजवादी युग में बिना कृत्रिम सन्तति-नियमन के प्रकृति जन-संख्या को सीमा में रक्खेगी ही। बुद्धि-संगत मार्ग तो यह है कि दुनिया की दशा सुधारी जाय और देखा जाय कि होता क्या है। अत्यधिक आबादी की कठिनाई अभी पैदा नहीं हुई है। जो कुछ है वह उसका कृत्रिम रूप है जो आय के असमान विभाजन से पैदा हुआ है और जिसका परिमार्जन आय के समान विभाजन से हो सकता है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जबतक दो आदमी एक आदमी की अपेक्षा और बीस लाख आदमी दस लाख आदमियों की अपेक्षा दुगुने से अधिक पैदा कर सकेंगे, तबतक पृथ्वी अधिक उत्पत्ति के नियम के अधीन रहेगी। यदि कभी जन-संख्या उस सीमा तक पहुँच जाय कि पृथ्वी उसका योग्य निर्वाह न कर सके तो पृथ्वी न्यून उत्पत्ति के नियम के अधीन होगी। इस समय पृथ्वी अधिक उत्पत्ति के नियम के अधीन है। कुछ अर्थशास्त्री यह भी कहते हैं कि आजकल पृथ्वी न्यून उत्पत्ति के नियम के अधीन है। ऐसे अर्थशास्त्रियों को यह उल्टा पाठ धनिकों के बालकों के लिए निर्मित विश्वविद्यालयों में पढ़ाया गया है। यह उनका भ्रम है जो आय के समान विभाजन से कभी दूर हो जायगा।

: ७ :

समाजवाद का आचरण कैसे करें ?

यहाँ तक हम यह तय कर चुके कि एक स्वतन्त्र समाज में समान विभाजन की योजना ही स्थायी और समृद्धिकारक हो सकती है। किन्तु अब सवाल यह उठता है कि इस योजना पर आचरण कैसे किया जाय। जिन्हें इन पंक्तियों को पढ़ कर यह उत्साह मिलेगा कि देश में समाजवाद चाहिए, उनमें से कुछ लोगों का ख़याल होगा कि ऐसा करने के लिए समाजवादियों में मिल जाना चाहिए, किन्तु इसमें एक आपत्ति है और

क्या समाजवादियों में मिलकर ?

वह यह कि समाजवादी कई तरह के होते हैं। उनमें से कुछ अच्छे होते हैं तो कुछ बुरे भी। उनमें ऐसे आदमी भी मिल जायँगे जो हमारा निमन्त्रण पाकर हमारे यहाँ आएं और हमारी निगाह चूक जाय तो हमारे घर की चीज़ें भी उड़ा ले जाएं। कुछ ऐसे नीतिभ्रष्ट भी होंगे जो सदाचार और दुराचार, सत्य और असत्य में कम अन्तर करते हैं। कारण, प्रायः समाजवादी कहलाने वाले लोगों में और दूसरे लोगों के बाह्य व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए हरएक आदमी को जो समाजवादियों अथवा किसी अन्य वाद-विशेष के मानने वाले लोगों में से अपने सहकारी चुनना चाहता है, यह मान कर चुनना चाहिए कि उनके अच्छाई का कोई बिल्ला नहीं लगा है और वे बिल्कुल अपरिचित हैं।

बहुत से ऐसे लोग भी हैं जो अपने आपको समाजवादी कहते हैं, किन्तु जो स्पष्टतया और पूरी तरह जानते भी नहीं कि समाजवाद क्या है। यदि ऐसे लोगों से कहा जाय कि हम देश की आय को सब लोगों में समान रूप से बाँटना चाहते हैं। और ऐसा करते समय हम अमीर और ग़रीब, बालक और वृद्ध, पण्डित और भंगी, और पापी और पुण्यात्मा में कोई भेद नहीं करेंगे तो वे अवश्य ही हमारे इस कथन पर आश्चर्य प्रकट करेंगे, या हमें विश्वास दिलायंगे कि यह सब अज्ञतापूर्ण और भ्रमभरा है और यह कि कोई भी शिक्षित समाजवादी ऐसे पागलपन में विश्वास नहीं करता। वे कहेंगे कि उनके मतानुसार समाजवाद में 'अवसर की समानता' भी चाहिए। इससे शायद उनका तात्पर्य यह होता है कि यदि हरएक को पूँजीपति बनने का समान अवसर मिले तो पूँजीवाद कुछ नुक़सान न करेगा। किन्तु वे यह नहीं समझा सकेंगे कि आय का समान विभाजन हुए बिना अवसर की यह समानता कैसे स्थापित की जा सकती है। अवसर की समानता असम्भव है। यदि हम एक लड़के को फाउन्टेनपैन और काग़ज़ की एक रिम देकर कहें कि उसको अमुक नाटककार के समान नाटक लिखने का समान अवसर है तो वह हमारे इस मूर्खतापूर्ण प्रश्न का क्या उत्तर देगा ? तो हमें

निश्चयपूर्वक यह जान लेना चाहिए कि समाजवाद का उद्देश्य आय की समानता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

भूतकाल में समाजवाद के बड़े-बड़े पंडित हो गए हैं और आज भी कितने ही लोग समाजवाद का अच्छा ज्ञान रखने वाले मौजूद हैं, किन्तु यदि वे आय की समानता नहीं चाहते तो वे कोई ऐसी बात नहीं चाहते जिससे सभ्यता की रक्षा हो सकेगी। 'भूखे भजन न होय गोपाला, यह लो अपनी कंठी माला !' यह बात किसी हिन्दू फ़क़ीर ने योंही नहीं कह दी है। यदि लोगों की आवश्यकता-पूर्ति का ख़याल न रक्खा जायगा तो वे अच्छे-से-अच्छा काम करने में अपने आप को असमर्थ पायंगे। ईसा, प्लेटो और पश्चिम के भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न साम्यवाद सब आर्थिक समानता को पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य (Kingdom of Heaven) स्थापित करने की प्रथम शर्त मानते हैं। इसलिए जो कोई किसी भी मार्ग से इस परिणाम पर पहुँचे, वह समाजवादी है और जो कोई न पहुँचे वह समाजवादी नहीं है, फिर चाहे वह अपने आप को लेखों और भाषणों द्वारा कितना ही समाजवादी घोषित क्यों न करे।

वास्तव में समाजवादी कम लोग हैं। उनमें मिला जा सकता है, किन्तु उनमें मिलने से समाजवाद नहीं आ सकता। कारण, उनके हाथ में कोई शक्ति न होगी। हां लोग, चाहें तो ऐसे मिल कर समाजवाद के लिए आन्दोलन कर सकते हैं।

इस समय जिन लोगों ने थोड़ा बहुत भी समाजवाद के विषय में जाना है वे प्रायः असमानता को धनिकों का अपराध समझते हैं और इसलिए वे, जब कभी भी बोलने या लिखने का मौक़ा पाते हैं. धनिकों को कोसने, खोटी-खरी सुनाने से नहीं चूकते। दूसरी

क्या दान-पुण्य और ऐसे धनिक भी हैं जो अपने को धनी होने के

द्वारा ? कारण अपराधी अनुभव करते हैं और लज्जित होते हैं। वे अपने आप को अपराधी-भाव और लज्जा के बोझ से हल्का करने के लिए ग़रीबों और ग़रीबों की संस्थाओं को दान भी देते हैं। बहुधा वे समाजवाद को ग़रीबों के हित के लिए होने वाला

पुण्य कार्य समझते हैं ! इससे बढ़कर अन्याय और क्या होगा ? समाजवाद तो दरिद्रता से घृणा करता है और गरीबों को निःशेष कर देना चाहता है। समाजवाद में गरीब रहने वालों पर उसी तरह मुक़दमे चलाए जायंगे जिस तरह कि आज पश्चिमी देशों में नंगे रहने वालों पर चलाए जाते हैं। भिक्षा कंगालों को स्वाभिमान-शून्य बनाती है और दाताओं को घमंडी; यह दोनों में घृणा भर देती है। साथ ही समाजवाद यह भी मानता है कि जिस देश की व्यवस्था न्याय और विवेक के साथ होती हो वहां गरीब के लिए न तो भिक्षा मांगने का कोई कारण होगा और न धनिकों के लिए भिक्षा देने का कोई अवसर ही। जो लोग परोपकारी बनना चाहते हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि बिना चोरी किए कोई परोपकार नहीं कर सकता ।

जो सद्गुण लोगों के कष्टों द्वारा वृद्धि पाते हैं उन्हें सद्गुण नहीं कहा जा सकता। कितने ही लोग स्कूलों, अस्पतालों, धर्मशालाओं, कुंओं आदि के निर्माण में और अनेक परोपकारी संस्थाओं तथा पीड़ित सहायक कोषों में अत्यधिक दिलचस्पी लेते हैं; किन्तु यदि इस प्रकार के परोपकारों की आवश्यकता ही मिटा दी जाय तो वे अपने आचार-विचारों के सुधारने में अपनी शक्तियों का सद्व्यय कर सकेंगे और दूसरों की चिन्ता छोड़कर अपनी फ़िक्र रखना सीख जायंगे। दया के लिए दुनिया में हमेशा गुंजाइश रहेगी; किन्तु वह निवारणीय क्षुधा और रोगों पर बर्बाद न की जानी चाहिए। सहानुभूति का प्रयोग करने के लिए ऐसी भयंकरताओं को अस्तित्व में रखना ठीक ऐसा ही है जैसा कि अपने घरों में आग लगा कर अग्नि बुझाने वाले एंजिनों की शक्ति और उनके संचालकों के साहस का उपयोग करना। किन्तु इस तरह तो समाजवाद आ भी नहीं सकता, क्योंकि ऐसा तो अबतक होता ही आया है।

आय की समानता करने का काम एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का काम नहीं है, वह तो सार्वजनिक काम है। बिना सब लोगों की सहायता के अर्थात् क़ानून की सहायता के आय की समानता नहीं हो सकती। किन्तु केवल एक क़ानून द्वारा ही यह सब कुछ न हो जायगा,

क़ानून ही केवल उपाय है

बल्कि उसके लिए एक के बाद एक इस तरह अनेक क़ानूनों की आवश्यकता होगी। केवल ऐसा आदेशात्मक क़ानून कि 'तुम्हें तुम्हारे पड़ोसी से अधिक या कम न मिलेगा' काफ़ी न होगा। इसका क़रीब-क़रीब पालन कराने के लिए भी अन्य कितने ही क़ानून नये बनाने होंगे, पुराने रद्द करने होंगे, नये राजकीय विभाग संगठित और संचालित करने पड़ेंगे, असंख्य स्त्री-पुरुषों को सार्वजनिक कर्मचारियों के रूप में नियुक्त करना होगा। हमें बालकों को इस तरह की शिक्षा देनी होगी कि वे अपने देश के प्रश्नों पर नए ढंग से विचार कर सकें। हम को पग-पग पर अज्ञता, मूर्खता, परम्परा, पक्षपात और धनिकों के स्थापित स्वत्वों के विरोध का सामना करना पड़ेगा।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाय कि एक बहुमत द्वारा निर्वाचित सरकार है जो इस पुस्तक के विचारों से तो सहमत है; किन्तु कोई दूसरा परिवर्तन करने को तैयार नहीं है। उसके सामने एक भूखा आदमी जाता है और कहता कि "मुझे दान नहीं चाहिए, काम चाहिए जिससे मैं अपने भोजन का मूल्य ईमानदारी के साथ चुका सकूँ।" तो वह सरकार आज की सभी पूंजीवादी सरकारों की तरह से उत्तर दे देगी कि उसके पास काम की कमी है, इसलिए वह उसे काम नहीं दे सकती। हाँ, भीख दे सकती है।

निजी व्यवसायियों और विदेशियों के हाथ में आज जितने काम के साधन हैं उन पर जबतक राष्ट्रीय सरकार अधिकार न कर ले तबतक वह भूखे लोगों को काम नहीं दे सकती। उन साधनों पर अधिकार करने के लिए राष्ट्रीय सरकार को खुद राष्ट्रीय भू-स्वामी, राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष और राष्ट्रीय व्यवसायी बनना होगा। दूसरे शब्दों में, जबतक विभाजन करने के लिए राष्ट्रीय आय निजी व्यवसायियों और विदेशियों के हाथ में होने के बजाय उसके हाथ में न हो, तबतक वह आय का समान विभाजन नहीं कर सकती और जबतक ऐसा न हो तबतक कोई भी व्यक्ति समाजवाद का अधिक-से-अधिक या पूरा आचरण नहीं कर सकता।

जबतक किसी देश में समाजवाद नहीं आ जात: तबतक व्यक्ति समाजवादी नहीं हो सकते। कारण, उन्हें असमाजवादी समाज में रहना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति समाजवाद के सिद्धान्तों को पढ़ कर अपनी संचित पूँजी को बाँट दे तो मौजूदा समाज जो समाजवाद पर आचरण नहीं करता है उसे ऐसा काम देगा ही जिससे उसका भले प्रकार निर्वाह हो सके, इसकी कोई गारण्टी नहीं है। जबतक ऐसा है तबतव लोग पूँजी का संचय करेंगे ही। ईसामसीह ने कहा था कि 'तुमको अपने कल के भोजन-वस्त्र की चिन्ता न करनी चाहिए।' किन्तु आज हरएक ईमानदार समाजवादी जानता है कि इसका पालन कितना कठिन है। एक गृहस्थ जिसको अपने परिवार के निर्वाह के लिए एक निश्चित रकम के लिए हर रोज आठ या दस घन्टे काम करना पड़ता है यदि कल की चिन्ता न करेगा तो काम छूट जाने पर, बीमार हो जाने पर या अन्य किसी कारण से कमाने योग्य न रहने पर वह अपने परिवार का पोषण क्या भीख माँग कर करेगा ? फिर उसे यह भी खयाल रहता है कि यदि वह मर गया तो उसके परिवार की क्या दशा होगी। हरएक आदमी जबतक कि वह पहिले दर्जे का आस्तिक न हो, इस वस्तु-स्थिति से अपनी आँखें नहीं मूंद सकता।

समाजवाद पर व्यक्तिगत आचरण

व्यवहार में समानता लानी चाहिए, यह ठीक है, किन्तु इससे हम यह नहीं कर सकते कि बाज़ार में जिनके पास अपने पास के रुपये से अधिक रुपया हो उनको लूट लेना चाहिए और उनको बाँट देना चाहिए जिनके पास हम से कम है। यदि हम ऐसा करेंगे तो इसमें कोई शक नहीं कि या तो हमें उसके लिए जेलखाने की हवा खानी पड़ेगी या पागलखाने की सैर करनी होगी। कारण, कुछ काम ऐसे हैं जिनको क़ानून द्वारा सरकार ही कर सकती है, जिन्हें व्यक्तिशः करने की छुट्टी किसी को नहीं दी जा सकती।

राजनैतिक दृष्टि से सभ्य लोगों को पहिली बात यह सीखनी चाहिए कि वे क़ानून को हाथ में न लें। समाजवाद शुरू से लेकर अन्त तक

क़ानून का विषय है। वह आलसियों से काम करावेगा, किंतु वह यह भार व्यक्तियों को अपने सिर पर लेने क आज़ादी नहीं दे सकता, क्योंकि यदि व्यक्ति अपने अधीनस्थ लोगों को उनसे काम लेने के लिए पीटने लगेंगे तो समाज में बड़ी अव्यवस्था फैल जायगी।

इन सब दलीलों का सार यह है कि यदि हम समाजवादी हैं तो हमें समाजवाद का अधिक-से-अधिक पूरा आचरण करने के लिए तबतक ठहरना होगा जबतक कि हमारा राष्ट्र समाजवादी नहीं हो जाता। हमें कई बार सुनाई देता है कि 'अमुक व्यक्ति बड़े जमींदार हैं या पूंजीपति हैं और मोटर रखते हैं, किन्तु फिर भी वे समाजवादी हैं। लोगों के ऐसा कहने का मतलब यह होता है कि उनका आचरण एक समाजवादी का सा नहीं है।

किन्तु उन्हें कोई यह राय नहीं दे सकता कि वे अपनी ज़मींदारी को छोड़ दें या अपनी पूँजी को ग़रीबों को बाँट दें। कारण यह है कि लोग जानते हैं कि मौजूदा समाज समाजवादी नहीं है। वह निर्धन होने की दशा में उन्हें काम नहीं देगा। फलतः वे भूखे मर सकते हैं। अतः जबतक सारा राष्ट्र समाजवादी नहीं हो जाता तबतक लोग बिना किसी तरह की जोखिम उठाए समाजवाद का अधिक-से-अधिक पूरा आचरण नहीं कर सकते। हाँ, ज़मींदारी और पूँजी के रखते हुए वे अपने आन्तरिक जीवन में समाजवाद का आचरण कर सकते हैं। यदि उन्हें मोटर अत्यावश्यक न हो तो वे मोटर न रक्खें।

हम चाहें तो पूँजीपति होते हुए भी रहन-सहन सादा रक्खें, ग़रीबों का ख़ून न चूस कर उन्हें वर्तमान परिस्थिति में जितनी अधिक-से-अधिक सम्भव हो उतनी मज़दूरी दें, अपनी पूंजी को अपनी न समझें, सार्वजनिक समझें और सार्वजनिक हित के लिए उसका उपयोग करें तथा स्वयं कमा कर खाएँ। अपने परिवार को भी परिश्रम की आदत डालें और उसे सिखाएँ कि दुनिया में अपनी मेहनत की कमाई खाना ही न्याय्य है। वर्तमान परिस्थिति में हरएक आदमी जो सच्चा समाजवादी है अधिक-से-अधिक यही कर सकता है!

खण्ड दूसरा : पूँजीवाद

: १ :

समाजवाद और पूंजीवाद का अन्तर

पूंजीवाद को समाजवाद में परिवर्तित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले पूंजीवाद और समाजवाद का अन्तर समझ लें। हमने समाजवाद को तो पहिले खण्ड में समझने का प्रयत्न किया है। इस दूसरे खण्ड में हम पूँजीवाद को समझने का प्रयत्न करेंगे। इस अध्याय में तो हम समाजवाद और पूंजीवाद में जो मौलिक अन्तर हैं उन्हीं का जिक्र करेंगे।

पूंजीवाद के विषय में पहिली बात जो कहने लायक है वह यह है कि पूंजीवाद का 'पूंजीवाद' नाम ग़लत रक्खा गया है। वह हम को भ्रम में डाल देता है। उसका योग्य नाम तो 'दरिद्रवाद' है। उससे भयंकर दरिद्रता का जन्म होता है। यही कारण है कि जो लोग पूंजीवादी पद्धति को अच्छी तरह समझते हैं उनमें से अधिकांश निष्पक्ष लोग उसका अन्त कर देना चाहते हैं।

पूंजीवादी लोग जिस तरह 'दरिद्रवाद' को पूंजीवाद का नाम दे कर सचाई को छुपाते हैं, उसी तरह मौजूदा समाचार-पत्र समाजवाद के सम्बन्ध में यह ग़लत ख़याल फैलाते हैं कि समाजवादी पूँजी का अन्त कर देना चाहते हैं और सभी लोगों को ग़रीब बना देना चाहते हैं, जबकि पूँजीपति पूँजी की रक्षा करना चाहते हैं और लोगों को धनी बनाना चाहते हैं।

आज हम जब 'पूंजीवाद' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे हमारा मतलब होता है 'वह पद्धति जिसके द्वारा देश की ज़मीन राष्ट्र के हाथों में नहीं रहती, बल्कि उन लोगों के हाथों में रहती है जिन्हें हम ज़मींदार कहते हैं।' उन्हें यह हक़ होता है कि वे चाहें तो उस पर किसी को रहने दें और चाहें तो न रहने दें। चाहें तो उसका उपयोग किसी को करने

चाहें तो न करने दें। वैसे कहा यह जाता है कि ज़मीन व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। कारण, राजा सब ज़मीन का स्वामी है। वह चाहे जब उस पर अपना अधिकार कर सकता है। किन्तु आजकल राजा तो ऐसा नहीं करता, ज़मींदार ऐसा करते हैं। इसलिए क़ानून के अनुसार चाहे जैसा हो, किन्तु वास्तव में ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व है।

इस व्यवस्था का मुख्य लाभ यह बताया जाता है कि उससे ज़मींदार इतने मालदार हो जाते हैं कि वे अतिरिक्त रुपया या पूंजी जमा कर सकते हैं। यह पूंजी भी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है, इसलिए इस पूंजी से जो उद्योग-धन्धे चलाए जाते हैं, वे भी व्यक्तिगत सम्पत्ति होते हैं। किन्तु उद्योग-धन्धे श्रम के बिना नहीं चल सकते हैं, इसलिए उनके मालिकों को अपनी ग़रज़ पूरी करने के लिए उन लोगों को काम देना पड़ता है जिनको दरिद्र (Proletarian) कहते हैं। उन्हें लोगों को इतनी मजदूरी तो देनी ही पड़ती है कि वे जीवित रह सकें और शादियाँ करके अपने ही जैसे अन्य जीव पैदा कर सकें। यह मजदूरी इतनी कम होती है कि वे नियमित रूप से हमेशा काम पर आने को बाध्य होते हैं। सभी औद्योगिक देशों की ऐसी ही दशा है।

इस अनर्थकारी पद्धति से आय की अत्यधिक विषमता पैदा होती है, इसे सभी लोग स्वीकार करते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि यदि जन-संख्या को उस हद तक मर्यादित रक्खा जाय जिस हद तक मालिक उसे काम दे सकें तब तो दूसरी बात है अन्यथा जन-संख्या की वृद्धि के कारण श्रम सस्ता होता है, लोगों में असन्तोष बढ़ता है, वे भयंकर रोगों में फंसते हैं और कष्ट पाते तथा अपराधी बनते हैं। यदि ऐसा बहुत दिन तक होता रहने दिया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि लोग हिंसात्मक विद्रोह करेंगे। किन्तु इसके विरुद्ध धनी लोग यह दलील देते हैं कि "यदि पूंजीवाद की इस पद्धति के अनुसार पूँजी इकट्ठी न की जायगी तो लोग स्वभावतः इतने स्वार्थी हैं कि वे सारी पूंजी को ही चट कर जायंगे और महान सभ्यता के विकास और संरक्षण के लिए कुछ न छोड़ेंगे ! इस कारण हमको ऐसा करना होता है।"

यह सिद्धान्त 'मैन्चेस्टर के विचारकों का सिद्धान्त' कहा जाता था किन्तु पीछे जब वह नाम बदनाम हो गया तो उसे पूँजीवाद कहा जाने लगा।

पूँजीवाद में सरकार का कर्तव्य होता है कि वह ज़मीन पर और पूँजी पर व्यक्तियों का अधिकार बनाये रक्खे तथा व्यक्तियों के स्वार्थों के पक्ष में व्यक्तियों ने आपस में जो भी इक़रार कर रक्खे हों उनका पालन अपने पुलिस, जेल और कचहरी आदि महकमों द्वारा कराये। इसके सिवा सरकार को देश में शान्ति बनाये रखने के लिए तथा बाहरी देशों पर आक्रमण करने के लिए जल तथा स्थल की सेनायें भी रखनी ही चाहिएं।

समाजवाद में, इसके विपरीत, आय की समानता बनाये रखना सरकार का पहिला कर्तव्य है। समाजवादी पद्धति के अनुसार सम्पत्ति पर किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होना चाहिए और न व्यक्तियों के बीच होने वाले समझौतों का पालन व्यक्तियों के स्वार्थ पूरे करने की दृष्टि से होना चाहिए। उसके अनुसार राष्ट्र-हित का स्थान पहिला है। समाजवाद में यह बर्दाश्त नहीं किया जा सकता कि एक मनुष्य तो पतनकारी दरिद्रता में अति श्रम करते-करते अकाल में ही काल-कवलित हो जाय और दूसरा उसके श्रम के फल को पड़ा-पड़ा खाता रहे! यह बिल्कुल सही है कि समाजवाद में ऐसे अनर्थ न होने दिए जायंगे।

सम्पत्ति पर व्यक्तियों का अधिकार दो रूपों में होता है या यों कहना चाहिए कि सम्पत्ति दो प्रकार की होती है। एक तो वह सम्पत्ति जिसका व्यक्ति निजी कामों में उपयोग करते हैं जैसे कोट, जूता, छाता, खाना, थोड़ा पैसा आदि और दूसरी सम्पत्ति वह होती है जिससे ये चीज़ें ख़रीदी जाती हैं जैसे अधिक धन, ज़मीन, कारख़ाने आदि। पहिली सम्पत्ति को हम सुविधा के लिए साधारण सम्पत्ति कह सकते हैं और दूसरी को विशेष सम्पत्ति। समाजवाद में साधारण सम्पत्ति में वृद्धि होगी, ऐसी आशा की जाती है, किन्तु उसमें विशेष सम्पत्ति, जो असली सम्पत्ति है,

न रह पायगी।

जो चीज़ें हमारी साधारण सम्पत्ति हैं हमें उनका भी सदुपयोग ही करने का अधिकार है। हमें उनका भी मनमाना उपयोग कदापि नहीं करने दिया जा सकता। हमें अपने छाते की नोंक से किसी की आँख नहीं फोड़ने दी जा सकती और न अपने भोजन से उसमें विष मिला कर किसी के प्राण लेने दिये जा सकते हैं, यद्यपि उन पर हमारा पूरा अधिकार है, किन्तु जो चीज़ें हमारी विशेष सम्पत्ति हैं अर्थात् जो वास्तव मे व्यक्तिगत नहीं कही जा सकती उनका उपयोग हम इतनी बुरी तरह से करते हैं कि हमें उसे अमानुषिक कहना चाहिए। इंग्लैण्ड में ज़मींदार अपने क़ब्ज़े की ज़मीन पर से उसमें बसे हुए लोगों को निकाल सकते हैं, और उसमें भेड़ों और हिरनों को चरने के लिए रख सकते हैं; क्योंकि उन्हें मनुष्यों को उस ज़मीन पर रहने देने की अपेक्षा भेड़ों और हिरनों को उसमें चरने देने में अधिक लाभ होता है। यह ज़मीन पर ज़मींदारों के अधिकार की अधिकता बतलाता है। वे ज़मीन का उपयोग इस तरह करते हैं कि हमारी साधारण सम्पत्ति उतनी व्यक्तिगत नहीं मालूम होती जितनी कि उनकी विशेष सम्पत्ति। कहने का मतलब यह है कि ज़मींदार चाहते हैं तो अपने कब्ज़े की ज़मीन से अपराध करते हैं जबकि हम अपने छाते की नोंक से या अपने भोजन से उसे विषैला करके अपराध नहीं कर सकते। इसीलिए समाजवादी कहते हैं कि 'विशेष सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार जितना कम हो उतना ही अच्छा होगा।'

वैसे क्या समाजवादी और क्या पूंजीवादी दोनों का ही यह दावा है कि 'हम मानव-जाति की अधिक-से-अधिक सेवा करेंगे।' किन्तु जिन सिद्धान्त पर वे टिके हुए हैं उनमें वे एक-दूसरे से मेल नहीं खाते। पूंजीवादी ज़मीन और पूंजी में व्यक्तिगत अधिकार रखना, व्यक्तियों के स्वार्थों को ध्यान में रख कर किए गए समझौतों या इक़रारों का पालन कराना और शान्ति-रक्षा के अतिरिक्त उद्योग-धन्धों में किसी भी तरह का राजकीय हस्तक्षेप न होने देना आवश्यक समझते हैं, किन्तु समाजवादी आय की समानता को (जिसमें व्यक्तिगत विशेष सम्पत्ति के बजाय व्यक्तिगत साधारण

सम्पत्ति और व्यक्तियों के बीच हुए समझौतों और इक़रारों के बजाय पूर्णतः राष्ट्रहित की दृष्टि से हुए समझौते और इक़रार शामिल हैं,) जब कभी आय की समानता पर आक्रमण हो तो पुलिस के हस्तक्षेप को और उद्योग-धन्धों तथा उनकी उत्पत्ति पर सरकार के पूर्ण नियंत्रण को आवश्यक समझते हैं।

स्पष्टतः दोनों पद्धतियों के आधारभूत सिद्धान्त परस्पर-विरोधी हैं। इंग्लैंण्ड की पार्लमेंण्ट में इन दोनों पद्धतियों के दो प्रतिनिधि-दल हैं। अनुदार-दल को पूंजीवादी पद्धति का प्रतिनिधि और मज़दूर-दल को समाजवादी पद्धति का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह ठीक है कि उन दलों के सदस्यों में से ऐसे कम होते हैं जिन्होंने अपनी-अपनी पद्धतियों के सिद्धान्तों का अध्ययन किया होता है। बहुत से मज़दूर-सदस्य समाजवादी नहीं होते। बहुत से अनुदार सदस्य भू-सत्तावादी ज़रूर हैं जिन्हें 'टोरी' भी कहते हैं। वे सब-के-सब किसी सिद्धान्त या पद्धति पर चलने के बजाय एक कठिनाई से निकल कर दूसरी में उलझते और उसे सुलझाते रहते हैं। ऐसी स्थिति में अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि यदि अनुदार दल की कोई नीति है तो वह पूँजीवादी नीति है और मज़दूर-दल की यदि कोई नीति है तो वह समाजवादी नीति है। वहां यदि कोई पूँजीवाद का समर्थन करना चाहे तो वह अनुदार-दल के सदस्य को अपना मत दे, यदि समाजवाद का समर्थन करना चाहे तो मजदूर-दल के सदस्य को।

ठीक ऐसा ही हम हिन्दुस्तान में भी कर सकते हैं। यहां इस प्रकार के दो दल मौजूद हैं, एक ग़रीबों से सहानुभूति रखने वाला और दूसरा उसका विरोधी, किन्तु इस देश की परिस्थिति राजनैतिक पराधीनता के कारण इंग्लैण्ड की अपेक्षा भिन्न होने से यहाँ विरोधी यानी अनुदार दल कई शक्तियों का संघात स्वरूप है।

: २ :

पूँजीवाद में ग़रीबों की हानि

राष्ट्रीय आय के असमान विभाजन से हमें अपने दैनिक जीवन में जो घाटा उठाना पड़ता है वह हमारे रोज़मर्रा के अनुभव की चीज़ है।

खरीददारी में हम गेहूँ, घी, शाक, कपड़ा, तेल या पुस्तक कोई भी चीज़ खरीदें, हमें वह केवल लागत मूल्य में कभी नहीं मिलती। हमें सदा उसके लागत मूल्य से कुछ-न-कुछ अधिक देना पड़ता है। हम जितना पैसा अपनी खरीद में अधिक देते हैं उतना, हमको मालूम होना चाहिए कि, उन लोगों के घरों में चला जाता है जो हमारा कोई काम नहीं करते हैं।

हम में से हरएक आदमी यह भली भाँति जानता है कि चीज़ों की लागत क़ीमत जितनी होती है उससे कम में हमें चीज़ें कभी नहीं मिल सकतीं हैं; किन्तु हम यदि यह जान लें कि जो लोग चीज़ों के बनाने में कड़ी मेहनत करते हैं उन्हें तो दोनों वक्त भरपेट खाना भी नहीं मिलता और जो आलसी हैं वे हमारे इस अतिरिक्त पैसे को विलासिता के कामों में बेरहमी से खर्च करने के लिए अपने पास रख लेते हैं, तो यदि हमारा बस चले तो हम वह अतिरिक्त पैसा उन्हें देने को कभी राज़ी न होंगे।

समाजवादी क्या चाहते हैं? यही कि लोगों को लागत मूल्य में चीज़ें दिलाई जाँय। किन्तु यह बात आलसी धनिकों और उन पर निर्भर रहने वाले लोगों को इतना डरा देती है कि वे भाषणों और समाचार-पत्रों द्वारा लोगों को यह बतलाने की पूरी कोशिश करते हैं कि उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण अनैतिक है, अस्वाभाविक है और देश को बर्बाद कर देने वाला है। किन्तु ये सब थोथी बातें हैं। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि स्थल-सेना और जल सेना, शासन-प्रबन्ध, डाक, तार, टेलीफ़ोन, सड़कें, पुल, समुद्री प्रकाश, बन्दरगाह तथा हथियारखाने आदि सब राष्ट्रीय

व्यवसाय हैं। इनका राष्ट्रीयकरण कभी से है। यदि कोई कहे कि इनके कारण वे देश बर्बाद हो रहे हैं तो उसे तुरन्त प्रान्तीय पागलख़ाने में भेजने की व्यवस्था करनी पड़ेगी जो कि ख़ुद एक राष्ट्रीय संस्था है।

हमारे शहरों में म्यूनिसिपैल्टियाँ शहरों के बहुत से कामों का प्रबन्ध करती हैं। वह स्थानीय राष्ट्रीयकरण है। पार्लमेण्ट या सार्वदेशिक सभायें सार्वदेशिक कार्यों को पूरा करती हैं, वह सार्वदेशिक राष्ट्रीयकरण है। महकमा डाक उसका एक उदाहरण है।

आजकल कितने ही काम कुछ तो निजी कम्पनियों और दूकानों द्वारा होते हैं और कुछ सार्वजनिक रूप से। उदाहरण के लिए लन्दन के एक ज़िले में बिजली के प्रकाश का प्रबन्ध निजी कम्पनियाँ करती हैं तो दूसरे में म्यूनिसिपैल्टियाँ। उनमें म्यूनिसिपैल्टियों का प्रकाश ही सस्ता पड़ता है; क्योंकि उनका काम ईमान्दारी और योग्यता के साथ होता है, वे अपनी पूँजी पर थोड़ा ब्याज लगाती हैं और मुनाफ़ा बिल्कुल नहीं लेतीं।

हिन्दुस्तान का डाक-विभाग तमाम हिन्दुस्तान में चिट्ठियाँ पहुँचाता है और बाहरी देशों में भी भेजता है। वह यह काम पहिले थोड़े महसूल में करता था, किन्तु अब उसने महसूल पहिले की अपेक्षा अधिक कर दिया है। फिर भी वह किसी भी निजी ख़बर लाने-ले जाने वाले की अपेक्षा बहुत कम पैसा लेता है। निजी कम्पनियाँ यदि डाक लाने-ले जाने का प्रबन्ध देश के थोड़े हिस्से में करें तो वे राष्ट्रीय डाक-विभाग की अपेक्षा प्रति चिट्ठी कम पैसा भी ले सकती हैं, क्योंकि पास में चिट्ठी भेजने में इतना कम ख़र्च पड़ेगा कि उसका अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता। सम्भव है वे चार पैसे में सौ चिट्ठी के हिसाब से या इससे भी कम में चिट्ठियाँ ले जा सकें, किन्तु यदि डाक-विभ.ग निजी कम्पनियों को डाक लाने-ले जाने की इजाज़त दे दे तो इसका परिणाम यह होगा कि वे पास-पास की चिट्ठियों को राष्ट्रीय डाक-विभाग की अपेक्षा थोड़े महसूल में ले जाकर और ला कर मुनाफ़ा कमा लेंगी और दूर-दूर की चिट्ठियों को राष्ट्रीय डाक-विभाग के लिए छोड़ देंगी जिन्हें लाने-ले जाने में राष्ट्रीय

डाक-विभाग को हानि उठानी पड़ेगी। परिणाम यह होगा कि डाक-विभाग डाक-महसूल को बहुत अधिक, शायद दूना या तिगुना, कर देने को बाध्य होगा जो हमें अवश्य अखरेगा। उससे डाक-विभाग की वर्तमान सुव्यवस्था और सुविधा जाती रहेगी। यही कारण है कि निजी डाक-विभाग खोलना क़ानूनन अपराध है।

राष्ट्रीय डाक-विभाग को पास-पास की चिट्ठियाँ लाने ले जाने में नियत महसूल से बहुत कम खर्च करना पड़ता है और दूर की चिट्ठियों में नियत महसूल से बहुत अधिक। वह पास की चिट्ठियों में होने वाली बचत से दूर की चिट्ठियों में होने वाली हानि की पूर्ति करता है, इसलिए वह इतने कम महसूल में दूर की चिट्ठियों को भेज सकता है।

हमारी ज़रूरत की मुख्य-मुख्य चीज़ें हैं, हमें उनका राष्ट्रीयकरण करना ही होगा। कारण, हम उनमें बहुत अधिक लुटते हैं। इंग्लैण्ड के लोगों के सामने इस समय कोयले की खानों के राष्ट्रीयकरण की समस्या एक मुख्य समस्या है। वहां समाजवादी लोग तो कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण इसलिए चाहते हैं कि आय की समानता के लिए यह ज़रूरी है, किन्तु दूसरे लोग उनका राष्ट्रीयकरण इसलिए चाहते हैं कि उन्हें कोयला सस्ता मिले। इंग्लैण्ड के जलवायु में कोयला एक बहुत ज़रूरी चीज़ है, किन्तु वहां उसका भाव बहुत महंगा रहता है। इसका कारण यह है कि वहां कई प्रकार की खानें हैं। कुछ खानों में तो कोयला बिल्कुल ऊपर ही मिल गया है और कुछ खानों में कोयले तक पहुँचने के लिए समुद्र के नीचे मीलों तक सुरंग खोदनी पड़ी है। जिन खानों में कोयला बहुत नीचा है उनमें से वह तभी निकाला जाता है जब कोयले की क़ीमत ऊंची हो, क्योंकि उनमें बहुत खर्च करने पर कम कोयला निकलता है। किन्तु जिन खानों में कोयला ऊंचा है और बहुत अधिक है उनमें काम करने पर मालिकों को सदा लाभ ही रहता है। खानों को चालू करने में २५० गिन्नी से १० लाख गिन्नी तक खर्च होता है; किन्तु होता यह है कि सभी खानों का कोयला महंगी खानों के कोयले से कम क़ीमत पर कभी नहीं बेचा जाता।

वहां कोयले की क़ीमत घट जाती है तो कभी बढ़ जाती है। इसका कारण यह है कि जब कोयले कम होते हैं तो महंगे और जब अधिक होते हैं तो सस्ते हो जाते हैं। किन्तु कोयले कम क्यों हो जाते हैं? इसका कारण यह है कि एक तो आजकल कोयला बड़ी-बड़ी व्यावसायिक भट्टियों और जहाज़ों में जलाया जाता है। इससे कोयले की क़ीमत अधिक होगई है और कोयले की क़ीमत बढ़ जाने से समुद्र के नीचे खानें खोदना भी लाभप्रद होगया है। इन खानों पर बहुत अधिक ख़र्च पड़ता है। इससे जब कोयले की क़ीमत इतनी गिर जाती है कि इन खानों में से निकाला हुआ कोयला लाभ से न बिक सके तो इनमें काम बन्द कर दिया जाता है और फिर तबतक शुरू नहीं किया जाता जबतक बाज़ार में कोयला कम रह जाने से उसका भाव फिर इतना चढ़ नहीं जाता कि उनमें से निकाला हुआ कोयला लाभ के साथ बिक सके। इस प्रकार क़ीमतें हमेशा ऊंची रक्खी जाती हैं ताकि अच्छी खानें हमेशा मुनाफ़ा उठा सकें।

यदि इन सभी खानों को, जिस तरह एक पोस्ट-मास्टर-जनरल के अधीन डाकख़ानों को रक्खा जाता है, वैसे एक कोल-मास्टर-जनरल के अधीन कर दें तो वह सभी लोगों को कोयला औसत मूल्य में देने का प्रबन्ध कर सकता है। वह सस्ती खानों के मुनाफे से महंगी खानों को सदा चालू रख कर बाज़ार में हमेशा काफी कोयला रख सकता है और कोयले का एक स्थिर भाव रख सकता है। किन्तु कोयले की खानों के मुनाफ़ाख़ोर मालिक राष्ट्रीयकरण के इस काम को बोल्शेविकों का दुष्टतापूर्ण आविष्कार बताते हैं।

हमने देख लिया कि इंग्लैण्ड के लोगों को कोयले की खानों पर व्यक्तिगत अधिकार होने से किस प्रकार सदा गांठ कटानी होती है। गेहूं, चाकू, छुरी, कील-कांटा आदि चीज़ें ख़रीदने में लोगों को इसी प्रकार घाटे में रहना होता है। कारण, इन सभी चीज़ों पर व्यक्तिगत अधिकार है। इससे वे हमें डाक के टिकटों की तरह औसत मूल्य में नहीं मिलतीं। यदि इन चीज़ों का राष्ट्रीयकरण हो जायगा तो ग़रीबों को आलसी लोग लूट कर न खा सकेंगे।

सरकारी करों में

लोग म्यूनिसिपल करों के बारे में बहुत चख-चख करते हैं । कारण, उनके बदले में प्रत्यक्षतः उनको कुछ नहीं मिलता और जो मिलता है उसका वे और सब लोगों के साथ उपभोग करते हैं जिससे उसके ऊपर उन्हें अपने कपड़ों, मकानों तथा अपनी अन्य चीज़ों की तरह अपने निजी स्वामित्व का अनुभव नहीं होता । किन्तु यदि सड़कें कुटी हुई न हों, उन पर रोशनी और पुलिस का प्रबन्ध न हो, जल पहुँचाने तथा मोरियों की व्यवस्था तथा दूसरे सेवा-साधन न हों तो वे बहुत समय तक अपने कपड़ों, मकानों तथा अपनी अन्य चीज़ों का निश्चिन्ततापूर्वक उपयोग न कर सकें । इन सारी चीज़ों की व्यवस्था उसी रुपये से तो होती है जिसे हम म्यूनिसिपल करों के रूप में देते हैं । यह जान कर हरएक समझदार आदमी कहेगा कि जितना रुपया वह ख़र्च करता है उसमें सबसे अधिक प्रतिफल उसको इस रुपये का ही मिलता है । म्यूनिसिपलिटी उससे उतना ही रुपया लेती है जितना कि वह वास्तव में इन सार्वजनिक सेवा-साधनों पर ख़र्च करती है । वह उससे कोई मुनाफ़ा नहीं उठाती ।

राजकीय करों के पक्ष में भी इसी लाभ का दावा किया जा सकता है । जिन सार्वजनिक सेवाओं के लिए हम करों के रूप में पैसा देते हैं उन सब के लिए यह कहा जा सकता है कि उनमें प्रत्यक्ष रीति से कोई मुनाफ़ा नहीं उठाया जाता । जो ख़र्च सरकार को पड़ता है उसी पर वे हमें मिल जाते हैं । दूसरे शब्दों में, यदि वे निजी कम्पनियों के हाथ में होतीं तो उस समय हम को जितना देना पड़ता उससे यह बहुत कम है ।

किन्तु वास्तविकता यह है कि पूँजीवाद में हम जिस प्रकार सफलतापूर्वक दूकानदारों में लूटे जाते हैं उसी प्रकार सफलतापूर्वक म्यूनिसिपल और राजकीय करों में भी लूटे जाते हैं । सरकार और स्थानीय अधिकारियों को अपनी सार्वजनिक व्यवस्था चलाने के लिए निजी मुनाफ़ाख़ोरों से बहुत बड़े परिमाण में माल ख़रीदना पड़ता है जो लागत मूल्य से अधिक क़ीमत वसूल करते हैं । इस तरह जो अतिरिक्त मूल्य देना पड़ता है वह राजकीय और म्यूनिसिपल करदाताओं की हैसियत से हम से ही वसूल

किया जाता है। किन्तु इस अतिरिक्त खर्च के लिए सरकार अनर्जित आय आदि पर कर लगा कर कुछ रुपया धनिकों से भी वसूल कर लेती है।

करों के मामले में ग़रीबों की भलाई के लिए धनी भी अधिक रुपया देते हैं। इंग्लैण्ड में सरकार करों द्वारा धनिकों की एक-चौथाई या एक-तिहाई आय और बहुत अधिक धनिकों की आधी से अधिक आय किसी विशेष कार्य के लिए नहीं, बल्कि बिना किसी प्रतिफल के विशुद्ध राष्ट्रीय-करण के लिए बलात् अपने अधिकार में ले लेती है। इसके लिए धनी इस हद तक कभी इन्कार नहीं करते कि उनका सामान कुर्क करने की नौबत आ जाय। यहां इन कार्यों की स्वीकृति देने वाले क़ानून अर्थ-विधान आदि नामों से हर साल पास किए जाते हैं, जबकि वास्तव में वे स्वत्वापहारी क़ानून होते हैं।

अभी उनकी एक-तिहाई या आधी आय ज़ब्त होती है तो कभी आगे चल कर नौ-दशांश या सब-की-सब जब्त होने लगे तो वहाँ के क़ानून, रीति-रिवाज, पार्लमेण्ट-प्रणाली और नैतिकता में ऐसी कोई बात नहीं है जो उसे रोक सके। वहां जब कोई बहुत धनी आदमी मरता है तो सरकार अगले आठ सालों तक उसकी सम्पत्ति की समस्त आय को ज़ब्त कर लेती है।

कुछ ऐसे अप्रत्यक्ष कर भी होते हैं जिन्हें धनी और ग़रीब दोनों ही देते हैं। उन में से कुछ, जो खाने-पीने की तथा ऐसी ही दूसरी चीज़ों पर लगे होते हैं, ख़रीदते समय चीज़ों की क़ीमत के साथ चुका दिए जाते हैं। दूसरे स्टाम्प-कर हैं। यदि किसी धनी या ग़रीब को दस-पांच रुपये की रसीद भी देनी हो तो उसे उस पर टिकट लगाना पड़ेगा, अन्यथा वह बेकार होगी। कुछ काग़ज़ों पर जिनका ग़रीब कभी उपयोग नहीं करते, सैकड़ों रुपये के स्टाम्प लगाने होते हैं। इस तरह धनिकों की पूंजी अनेकों रूपों में उनकी जेबों से निकल कर राष्ट्रीय कोष में जाती है। ये सब विशुद्ध समाजवाद के काम हैं। इनसे सरकार करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष इकट्ठा करती है।

धनी लोग पूछ सकते हैं कि इस रुपये का उन्हें क्या प्रतिफल मिलता है ? सरकार इसी रुपये से तो फ़ौज, पुलिस, न्यायालय, जेलें आदि सारे सार्वजनिक सेवा-साधन उपलब्ध करती है जिनमें लाखों लोग काम करते हैं। इंग्लैण्ड में इसी रुपये में से दस करोड़ गिन्नी से अधिक रुपया पेन्शनों और वेकार-वृत्तियों के रूप में उन लोगों को भी दिए जाते हैं जिनकी थोडी आय होती है या बिल्कुल नहीं होती।

आय का यह पुनर्विभाजन विशुद्ध समाजवाद है। इसमें धनिकों से रुपया लेकर ग़रीबों में बांटा जाता है और उनकी व्यक्तिगत योग्यताओं का कोई ख़याल नहीं किया जाता।

युद्ध की शुरूआत में इंग्लैण्ड में मुनाफ़ाख़ोरों का प्रभाव इतना अधिक था कि उन्होंने गोले-गोलियां राष्ट्रीय कारख़ानों में बनने देने के बजाय स्वयं बनाने की इजाज़त सरकार से ले ली। इसका परिणाम यह हुआ कि वूलविच के गोले-गोलियां बनाने वाले सरकारी कारख़ाने के मज़दूर बेकार बैठे रहे और उन्हें सरकारी कोष से पूरा वेतन चुकाया गया। यह रुपया सार्वजनिक ही था। यह इसलिए हुआ कि मुनाफ़ाख़ोर कम्पनियां मुनाफ़ा कमा सकें। इस सौदे में उन्होंने जो नफ़ा कमाया वह भी करदाताओं ने ही दिया और उनके मज़दूरों की मज़दूरियां दीं। किन्तु उनका तैयार किया हुआ सामान शीघ्र ही नाकाफ़ी, अनावश्यक रूप से मंहगा और रद्दी साबित हुआ। गोलों के हमेशा न फटने के कारण फ्लैण्डर्स के युद्ध-क्षेत्र में काफ़ी अंगरेज़ मारे गए। अन्त में सरकार को यह काम फिर अपने हाथ में लेना पड़ा। सरकार अच्छा सस्ता सामान काफ़ी परिमाण में बनवा सकी। यह राष्ट्रीयकरण के पक्ष की एक बड़ी विजय थी। किन्तु युद्ध ख़त्म हो जाने के बाद पूँजीवादी अख़बारों ने इन सरकारी कारख़ानों को रखना सरकार का अपव्यय बताना शुरू किया। फल यह हुआ कि वे नाममात्र मूल्य में मुनाफ़ाख़ोरों को बेच दिए गए। राष्ट्रीय मज़दूर निकाल दिए गए जो सेना से निकाले हुए मज़दूरों के साथ २० लाख की संख्या में सड़कों पर फिरते थे। इनको सरकारी कोष से बेकार वृत्तियाँ देनी होती थीं।

अब हमने देख लिया कि हम जब राजकीय कर देते हैं तो हम से सार्वजनिक कार्यों का लागत मूल्य ही नहीं लिया जाता, हमें और भी बड़ी-बड़ी रकमें देनी होती हैं जो अनावश्यक और अत्यधिक मुनाफे के रूप में निजी व्यवसायियों के पास जाती हैं, ज़मींदारों और पूंजीपतियों के पास भी जाती हैं जो व्यवसायियों को ज़मीन और पूंजी देते हैं। हमको भी सरकारी सहायता भोगी होने के कारण, या व्यवसायों में हिस्से ख़रीदने के कारण उसका कुछ अंश मिल सकता है; किन्तु अन्त में हम हिसाब लगाने पर सरकारी करों में रहते बहुत घाटे में ही हैं।

म्यूनिसिपल कर भी हरएक आदमी समान रूप से नहीं देता है। सरकार की भांति स्थानीय अधिकारियों को भी यह मानना होता है कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक दे सकते हैं। वे म्यूनिसिपल करों में करदाता की ज़मीन-जायदाद का मूल्य आंक कर उसके अनुसार करों का परिमाण स्थिर करते हैं। इस प्रकार जो जितना ज़्यादा धनी होता है उसको उतना ही अधिक म्यूनिसिपल कर देना होता है।

इसके अलावा क्रमानुगत आय-कर भी आते हैं, किन्तु साथ ही राष्ट्रीय-ऋण की तरह म्यूनिसिपल-ऋण भी होते हैं, क्योंकि म्यूनिसिपलटियाँ सार्वजनिक कार्यों को ठेके देने में केन्द्रीय सरकारों के समान ही सुस्त और फ़िज़ूलख़र्च होती हैं। इसलिए हम पूंजीवादी-पद्धति के कारण जिस प्रकार राजकीय करों में लुटते हैं उसी प्रकार म्यूनिसिपल करों में भी घाटे में रहते हैं।

इस पद्धति में म्यूनिसिपल करों से आय की विषमता और भी बढ़ती है। कारण, म्यूनिसिपल समाजवाद का वास्तविक अंश तो म्यूनिसिपल करों से सचाई के साथ अपना काम चलाना है, किन्तु वह कुछ अत्यन्त धनी और कुछ अत्यन्त दरिद्रता लोगों पर लागू किया जाता है। इससे झील, पार्क जैसी इन चीज़ों के लिए, जिनका उपयोग केवल मोटरों, और घोड़ों वाले, धनी ही कर पाते हैं, उन दरिद्रों को भी कर देना होता है जिन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता। इससे तो अच्छा यह हो कि इन

स्थानों में धनियों पर प्रवेप-शुल्क लगा दिया जाय जिससे उनको क़ायम रक्खा जा सके।

सार्वजनिक कामों पर होने वाला व्यय यद्यपि अनिवार्य व्यय है जिसे सबको समान रूप से देना पड़ता है; किन्तु जबतक आय समान न हो, सब लोग उस व्यय का भार नहीं उठा सकते। इसका इलाज यह नहीं है कि ये स्थान एकत्र ही न जांय, यदि हम ऐसा करें तो हमारा जीवित रहना कठिन हो जायगा। इसका ठीक इलाज तो आय का समी-करण ही है। किन्तु जबतक वह नहीं हो जाता तबतक हमें म्यूनिसिपल-कर का अपना हिस्सा ख़ुशी-ख़ुशी देना चाहिए।

इंग्लैण्ड में जहां बेकारों को बेकारी का भत्ता देने की प्रथा है, करदाता के पैसे से धनी दूसरे प्रकारों से भी लाभ उठाते हैं। धनी नौकर रखते हैं तो वे कुछ को तो नियमित काम देते हैं और कुछ को कभी-कभी। फुटकर काम करने वाले कुछ घन्टे के लिए या एक दिन के लिए रक्खे जाते हैं। उसके बाद मजूरी दे कर अलग किए जाते हैं। उन्हें जबतक उतना ही छोटा दूसरा काम न मिल जाय तबतक वे बाज़ारों में इधर-से-उधर फिरते रहते हैं। यदि वे बीमार होते हैं तो भी उनकी ख़बर लेने वाला कोई नहीं होता। ऐसे काम करने वाले, जिनके श्रम का पूरा फ़ायदा धनियों ने उठाया, बुढ़ापे में जब काम करने योग्य नहीं रहते तो म्यूनिसिपल करों में से मिलने वाली बेकार वृत्ति पर निर्वाह करते हैं। यदि करदाता इन लोगों के निर्वाह का भार अपने ऊपर न लें तो धनियों को उन्हें उनके श्रम का या तो अधिक पारिश्रमिक देना चाहिए या बुढ़ापे में पेन्शन, किन्तु धनी ऐसा नहीं करते और अपने घरलू खर्च का एक भाग करदाताओं से दिलाते हैं।

ऐसा ही बन्दरगाहों की कम्पनियां करती हैं। वे जहाजों में माल उतारने और उनमें लादने का काम करने वाले मज़दूरों को बहुत कम मज़दूरी देती हैं, किन्तु उनसे काम बहुत जोखिम का और कड़ा लेती हैं। वे उन्हें घन्टों के हिसाब से काम देती हैं। इन मज़दूरों की भी हालत ऐसी ही होती है। उनमें से कितने ही म्यूनिसिपल दरिद्रशालाओं में

आश्रय लेने को विवश होते हैं और जब काम करते समय दुर्घटना के शिकार होते हैं तो म्यूनिसिपल अस्पतालों में सार्वजनिक ख़र्च पर इलाज कराने को भेज दिए जाते हैं।

इंगलैण्ड में जेलों का संचालन भी म्यूनिसिपैलिटियाँ करती हैं। उनके साथ पुलिस, अदालतों और न्यायाधीशों का अत्यन्त ख़र्चीला कारबार भी जुड़ा रहता है। ये संस्थायें जिन अपराधों का प्रतिकार यहाँ करती हैं उनका एक बड़ा भाग शराबख़ोरी के कारण पैदा होता है। और शराब का व्यापार अत्यन्त लाभकारी है। शराब का व्यवसायी लोगों को शराब पिलाकर उनके पास जो कुछ होता है वह तो उनसे छीन लेता है और नशे में ग़र्क़ होने पर उन्हें खींचकर सड़क पर डलवा देता है। फिर शराबी चाहे जो शरारत करें, अपराध करें, ख़ुद को और अपने कुटुम्ब को रोगी बनायें, कंगाल हो जायें; इन सबका ख़र्च करदाता को उठाना पड़ता है। यदि इन सबका ख़र्च शराब के मुनाफ़े में से वसूल किया जाय तो वह इतना होगा कि शराब के व्यवसायियों का सारा मुनाफ़ा ही ख़त्म हो जायगा, किन्तु यह सब करदाताओं के ही सिर मढ़ा जाता है।

जहाँ म्यूनिसिपैलटियां बिजली की रोशनी का प्रबन्ध करती हैं, वहाँ उन्हें बिजली के कारख़ाने स्थापित करने के लिए कर्ज़ भी लेना होता है और साथ ही वापिस देना भी शुरू करना होता है ताकि वह एक ख़ास अवधि के भीतर बिल्कुल चुक जाय। निजी कम्पनियों को यह नहीं करना होता; किन्तु फिर भी म्यूनिसिपैलिटियों की दी हुई बिजली सस्ती पड़ती है। म्यूनिसिपैलिटियाँ इससे मुनाफ़ा कमाती हैं और उसका उपयोग म्यूनिसिपल करों को कम करने में करती हैं। अर्थात् जो दूकानदार वग़ैरा लोग बिजली की रोशनी के लिए अधिक पैसा देते हैं वे उन लोगों के करों का हिस्सा देते हैं जो बिजली का उपयोग नहीं करते, या कम करते हैं। बिजली की रोशनी के लिए अधिक पैसा ग़रीब ही देते हैं, क्योंकि उन्हें अपनी दुकानों में कसाकस रोशनी करनी होती है।

इस तरह से हमको राज्य करों की तरह से ही म्यूनिसिपल करों में

भी पूँजीवाद के कारण कुछ हद तक लुटना पड़ता है।

जब हम म्यूनिसिपल और राजकीय करों के रूप में सार्वजनिक कोषाध्यक्ष को रुपया देते हैं तो वह सार्वजनिक सेवा के रूप में उसका एक अंश हमें लौटा देता है, किन्तु किराये के मामले में ऐसी बात नहीं है। किराये का रुपया सीधा धनियों के पास जाता है

किराये में

और उसका मनमाना उपयोग करते हैं। इससे आय की असमानता घटने के बजाय बढ़ती है। यदि हम किसी शहर में ज़मीन का एक टुकड़ा किराये पर लेकर उस पर काम करते हैं तो यह बिल्कुल साफ़ है कि ज़मींदार हमारी कमाई पर निर्वाह करता है। हम उसको इससे नहीं रोक सकते। कारण, क़ानून ने उसको सत्ता दे रक्खी है कि यदि हम ज़मीन को काम में लाने के लिए पैसा न दें तो वह हमें निकाल बाहर करे। यदि कोई आदमी हवा, धूप और समुद्र पर अधिकार जताने लगे तो हम अवश्य ही उसको पागल कहेंगे, किन्तु वह आदमी ज़मीन को अपनी मिल्कियत समझता है। हमें भी यह बात असाधारण प्रतीत नहीं होती, क्योंकि हम उसे स्वाभाविक समझने लगे हैं। इसके अलावा हमें मकान का किराया भी देना पड़ता है जो उचित प्रतीत होता है। हम उसका पता यदि मकान का बीमा करा लिया गया हो तो उससे लगा सकते हैं, क्योंकि बीमा मकान की जितनी क़ीमत होती है उतनी ही रकम का कराया जाता है। उस रुपये का जितना वार्षिक ब्याज होता है वही मकान का ठीक किराया होता है। इस किराये से अधिक हम जो कुछ देते हैं वह हम से ज़मीन का किराया लिया जाता है।

बम्बई, लन्दन-जैसे शहरों में यह किराया मकान के असली किराये से इतना अधिक होता है कि उनकी एक-दूसरे के साथ तुलना करना व्यर्थ है। महत्त्वहीन स्थानों में यह अधिकता इतनी कम होती है कि मकान बनाने के ख़र्च पर उचित मुनाफ़ा भी मुश्किल से निकलता है। किन्तु सब मिलाकर ज़मीन के किराये की यह रक़म इंगलैण्ड में करोड़ों पौंड होती है। यह मकानों का किराया नहीं है, बल्कि ज़मींदारों ने ज़मीन

पर रहने की जो इजाज़त दी है उसकी क़ीमत है।

किन्तु वकील हमें बतायेंगे कि ज़मीन इस तरह से निजी सम्पत्ति है ही नहीं, पर यह सही है कि वर्तमान व्यवस्था के अनुसार एक आलसी और सम्भवतः बदनाम आदमी पुलिस के बल पर किसी भी परिश्रमी और प्रतिष्ठित पुरुष को सीधा जाकर कह सकता है कि 'या तो अपनी कमाई का चतुर्थांश मुझे दे दो, अन्यथा, ज़मीन से निकल जाओ।' वह किराया लेने से भी इन्कार कर सकता है और ज़मीन से निकल जाने की आज्ञा दे सकता है। स्काटलैंड के मछुओं और किसानों को सकुटुम्ब अपने देश से अमेरिका के जंगली-प्रदेशों में हंकार दिया गया था। कारण, जिस ज़मीन में वह रहते थे उसको ज़मींदार हिरणों का जंगल बनाना चाहते थे। इंग्लैंड में भेड़ों के लिए स्थान ख़ाली कराने के लिए लोगों को लाखों की संख्या में गांवों से निकाल दिया गया था, क्योंकि ज़मींदारों को आदमियों की अपेक्षा भेड़ों से अधिक मुनाफ़ा होता था। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

बड़े-बड़े कस्बों और शहरों में कारख़ानों, दफ़्तरों और मुख्य बाज़ारों के पास के मकानों का किराया ज़्यादा रहता है। उसके मुक़ाबिले आस-पास की उपबस्तियों में मकान सस्ते होते हैं। हम सोचते हैं कि चलो, शहर के बाहरी हिस्सों में ही रह लेंगे; किन्तु तांगा, ट्राम आदि में इतना ख़र्च होता है कि साल के अन्त में हमें मालूम हो जाता है कि हमने बाहर रह कर भी किराये में बचत नहीं की है। मकानों के मालिक यह बात जानते हैं, इसीलिए वे कामकाजी मुहल्लों में मकानों का किराया अत्यधिक लेकर लोगों की बेबसी से लाभ उठाते हैं और उनकी मासिक आय का एक बड़ा हिस्सा उनसे छीन लेते हैं।

इस स्थिति की भयंकरता वहां बढ़ जाती है जहाँ आबादी अधिक हो जाने के कारण अच्छी ज़मीन पहिले ही से घिरी होती है। जो लोग बाद में आते हैं उन्हें मालूम होता है कि ख़राब ज़मीन पर कब्ज़ा करने के बजाय अच्छी ज़मीन किराये पर लेने में अधिक लाभ है। यह किराये की रकम ही अच्छी और ख़राब ज़मीन की उत्पत्ति का अन्तर है। ऐसे मौक़ों पर

अच्छी ज़मीन के मालिक अपनी ज़मीनें किराये पर उठा देते हैं और काम करना बन्द करके किराये पर या जैसा कि वे कहते हैं, ज़मीन की मालिकी पर अर्थात् दूसरों के श्रम पर निर्वाह करते हैं।

जब बड़े-बड़े नगर बसते हैं और उद्योग खड़े होते हैं तो ज़मीन बहुत तेज़ हो जाती है। लन्दन के खास-खास बाज़ारों में ज़मीन के टुकड़े दस लाख गिन्नी प्रति एकड़ के हिसाब से बिकते हैं। ज़मीन को एक आदमी ने किराये पर लिया, दूसरे को कुछ मुनाफ़ा लेकर उठा दिया, दूसरे ने तीसरे को उठा दिया। इस प्रकार किराये पर उठाने वालों की संख्या आधे दर्जन तक पहुँच सकती है, और इन सब के लिए रुपया उस आदमी को देना होता है जो अखीरी किरायेदार होता है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में यूरोप के गाँव दूसरे महाद्वीपों की पहिले दर्जे की बस्तियों में परिणत हो गए हैं और करोड़ों रुपये पैदा करते हैं, फिर भी उनके अधिकांश अधिवासी जिनके श्रम से इतना रुपया पैदा होता है, कुछ अच्छी दशा में नहीं हैं। उनकी हालत उस समय से भी खराब है जबकि उनके गाँव बहुत छोटे थे और ज़मीन की कीमत फ़ी एकड़ एक गिन्नी भी न थी। किन्तु इस अर्से में ज़मींदार खूब मालदार हुए हैं। उन्हें दिन भर बेकार बैठे-बैठे इतना मिल जाता है जितना कि बहुत सों को साठ साल की उम्रों तक मेहनत करते रहने पर भी नसीब नहीं होता।

यदि हम ने ज़ोर दिया होता कि कानूनी सिद्धान्त के अनुसार ज़मीन राष्ट्रीय सम्पत्ति होनी चाहिए, सब किराये राष्ट्रीय कोष में जमा होने चाहिएं और उनसे सार्वजनिक सेवा-कार्य होना चाहिए, तो दुनियां में कहीं भी शहरों की हालत इतनी खराब न हुई होती जितनी कि वह आज है।

: ३ :

पूँजी और उसका उपयोग

पूँजी क्या है?

अतिरिक्त रुपये को पूँजी कहते हैं। यदि इस रुपये का भी ठीक उपयोग किया जाय तो ज़मीन की तरह से इसका भी किराया मिल सकता है। उसके मालिक, जो पूँजीपति कहलाते हैं, उसका किराया लेते हैं। ज़मीन की तरह सम्पत्ति को निजी हाथों में रहने देने और उससे किराया कमाने की इस पद्धति को पूँजीवाद कहते हैं। पूँजीवाद में हम में से जिनके पास कुछ है वे भी चाहे जब ग़रीब बनाये जा सकते हैं या उनका रक्तशोषण हो सकता है। इसलिए हमको पूँजीवाद को समझ लेना ज़रूरी है।

पूँजीवाद न तो नित्य है और न बहुत प्राचीन, न असाध्य है न दुस्साध्य। केवल वैज्ञानिक ढंग से उसका निदान होने की आवश्यकता है। वास्तव में सभ्यता पूँजीवाद-जनित एक रोग है जो अदूरदर्शिता और अनैतिकता के कारण पैदा हुआ है। यदि पुरानी नैतिक शिक्षाओं और धर्माज्ञाओं ने हमारी मदद न की होती तो पूँजीवादी जगत इससे कभी का नष्ट हो गया होता। किन्तु वह अभी दुनिया में नवजात नास्तिकता ही है, अधिक-से-अधिक दो सौ वर्ष पुरानी। यदि हम असावधान रहेंगे तो उससे हमारी सभ्यताओं का नाश हो सकता है।

साधारण स्त्री-पुरुषों के पास जो अतिरिक्त रुपया जमा होता है वह यद्यपि देखने में पूँजीवाद की एक निर्दोष शुरूआत है, किन्तु उसी से दरिद्रता, दुःख, शराबखोरी, अपराध, दुर्गुण और असामयिक मृत्यु का भारी बोझा पैदा होता है। यद्यपि अतिरिक्त रुपये को सब सुधारों का साधन बनाया जा सकता है, किन्तु वह अभी तो सब बुराइयों की जड़ है।

अतिरिक्त रुपया क्या है? अपनी सामाजिक स्थिति के योग्य निर्वाह

के लिए आवश्यक हरएक वस्तु ख़रीद लेने के बाद जो रुपया बच रहता है वही अतिरिक्त रुपया है। यदि कोई पचास रुपया मासिक पर उस ढंग से रह सकता हो जिस ढंग से वह रहता है और रहने में सन्तुष्ट हो तथा उसकी आय पिचत्तर रुपया मासिक हो तो मास के अन्त में उसके पास पच्चीस रुपया बच रहेगा। वह उस हद तक पूँजीपति होगा। अतः पूँजीपति होने के लिए हमारे पास जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक से अधिक रुपया होना चाहिए।

ऐसी दशा में ग़रीब आदमी पूँजीपति नहीं हो सकता। ग़रीब आदमी वह है जिसके पास जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक से कम रुपया हो। यदि ग़रीब के पास इतना रुपया हो कि वह अपने बच्चों को ठीक प्रकार से खिला-पिला और पहिना भी न सके और न स्वस्थ रख सके तो उसे कभी नहीं बचाना चाहिए। ख़र्च करना न केवल पहिली आवश्यकता है, बल्कि पहिला कर्तव्य है। किंतु ग़रीब लोग भी बचाते हैं। इंग्लैण्ड के सेविंग बैंकों, इमारती संस्थाओं, सहयोग-समितियों और सेविंग सर्टीफ़िकेटों में करोड़ों अतिरिक्त रुपया लगा है। यह सब रुपया श्रमजीवी वर्गों के नाम पर जमा मिलता है तो बड़ा विस्मयोत्पादक प्रतीत होता है। किंतु वह व्यवसायों में लगे हुए कुल रुपये की तुलना में इतना नगण्य है कि यदि धनिकों की पूँजी के साथ-साथ वह भी एक सार्वजनिक कोष में डाल दिया जाय तो उसके ग़रीब मालिक फ़ायदे में ही रहेंगे। अंगरेज़ी पूँजी का बड़ा भाग—उस पूँजी का जो महत्व रखती है—उन लोगों का अतिरिक्त रुपया है जिनके पास जीवन-निर्वाह के लिए काफ़ी से अधिक रुपया है। मालिक को बिना कष्ट पहुँचे वह स्वतः बच जाता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि पूँजी का उपयोग किस तरह किया जाय? क्या उसे ज़रूरत के वक्त के लिए डाल रक्खा जाय? अवश्य ही कोष के नोट, बैंक नोट, धातु के सिक्के, चैक बुक और बैंक की बहियों में जमा नामे की रक़में सुरक्षित रक्खी रहेंगी, किंतु यह सब चीज़ें हमारे लिए आवश्यक सामान, मुख्यतः भोजन के लिए क़ानूनी अधिकार-मात्र हैं। भोजन, जैसा कि

पूँजी का उपयोग

हम जानते हैं, रक्खा न रहेगा और जब खाना ही सड़ जायेगा तो यह अतिरिक्त रुपया किस काम आयगा ?

हम जब यह जानेंगे कि रुपये का वास्तविक अर्थ है वे चीज़ें, जो रुपये के द्वारा ख़रीदी जा सकती हैं, और यह कि इनमें से ज्यादातर चीज़ें नाशवान हैं, तो हम समझ लेंगे कि अतिरिक्त रुपया बचाया नहीं जा सकता; वह तुरन्त ख़र्च किया जाना चाहिए। जो यह बात न जानते होंगे वे कहेंगे कि रुपया हमेशा रुपया ही रहता है; किंतु उनका यह ख़याल ग़लत है। यह सही है कि सोने के सिक्कों का मूल्य हमेशा उसी धातु के बराबर होगा जिसके वे बने होंगे, किंतु आजकल तो काग़ज़ी रुपया बहुत चलता है जिसका मूल्य हमेशा उतना ही नहीं रहता। यूरोप में महायुद्ध के बाद काग़ज़ी सिक्का अधिक चला। इंग्लैंण्ड में काग़ज़ी रुपये का मूल्य इतना घटा कि उससे एक शिलिंग में उससे अधिक सामग्री नहीं ख़रीदी जा सकती थी जितनी युद्ध से पहिले ६ पैन्स में ख़रीदी जा सकती थी। यूरोप के कई अन्य देशों में हज़ारों पौण्ड देकर भी एक डाक का टिकट नहीं ख़रीदा जा सकता था और पचास हज़ार पौंड में मुश्किल से ट्रामभाड़ा चुकाया जा सकता था। यूरोप भर में जो लोग अपने और अपने बच्चों के लिए आयु भर के लिए निश्चिन्तता अनुभव करते थे वे ही कंगाल होगए और इंग्लैंण्ड मे अपने पिताओं के बीमों पर आराम से रहने वाले लोगों का मुश्किल से गुज़ारा होता था। रुपये में विश्वास रखने का यह परिणाम हुआ।

एक ओर तो सरकारें थोथे नोट (जिनके पीछे सोना या चाँदी नहीं रक्खा जाता था) छाप कर धोखे से लोगों का बचा हुआ रुपया छीन रही थीं, दूसरी ओर कितने ही धनी व्यवसायी उधार माल लेकर और उसका मूल्य उस मूल्यहीन रुपये में चुका कर धनी हो रहे थे। उन्होंने अपने स्वार्थ-साधन के लिए अपनी सारी सत्ता और अपना सारा प्रभाव इस दिशा में ख़र्च किया कि सरकारें अपने झूठे नोट छापना जारी रख कर अपनी हालत ख़राब-से-ख़राब कर लें। इसके विपरीत जिन धनी लोगों ने दूसरों को क़र्ज़ दे रक्खा था उन्होंने प्रतिकूल दिशा में

अर्थात् सरकार नोट न छापे इसके लिए अपना प्रभाव ख़र्च किया। ख़राव राय की हमेशा जीत हुई। कारण, स्वयं सरकारों को भी रुपया देना था। वे सस्ते काग़ज़ी टुकड़ों में अपना क़र्ज़ चुका कर खुश क्यों न होतीं?

इस सबसे सभी समझदार आदमी इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि रुपया इकट्ठा करना उसको बचाने का सुरक्षित तरीक़ा नहीं है। यदि उनका रुपया तत्काल ख़र्च न हो गया तो वे कभी यह भरोसा नहीं रख सकते कि दस साल बाद या दस सप्ताह बाद या युद्ध के दिनों में दस दिन या दस मिनिट बाद उसका मूल्य कितना रह जायगा?

किन्तु दूरदर्शी आदमी कहेंगे कि 'हम तो अपना अतिरिक्त रुपया ख़र्च करना नहीं चाहते, बचाना चाहते हैं।' यदि उनको कोई चीज चाहिए तो वह उस रुपये से ख़रीदी जा सकती है, किन्तु तब वह अतिरिक्त रुपया न कहलायगा। फिर यदि कोई आदमी अच्छा भोजन करके उठा हो तो उसको यह सलाह देना बेकार भी होगा कि अपने रुपये का कुछ-न-कुछ उपयोग कर लेने के लिए वह फिर भोजन मंगवाले और उसे तुरन्त खाले। इससे तो यही अच्छा होगा कि वह उसे उठा कर खिड़की के बाहर फेंक दे। तो वे कह सकते हैं कि 'अच्छा, हम उसे ख़र्च भी कर लें और बचा भी लें। कोई ऐसा ही उपाय बताओ।' किन्तु यह असम्भव है। हाँ, हम यह कर सकते हैं कि उस अतिरिक्त रुपये को तो ख़र्च कर डालें और उससे अपनी आमदनी बढ़ालें।

यदि ख़ुद खा चुकने के बाद हमको कोई ऐसा आदमी मिल जाय जो एक साल के बाद हमको मुफ़्त खाना खिला सके तो हम अपना अतिरिक्त रुपया उसको मुफ़्त खाना खिलाने में ख़र्च कर सकते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि हम अपना बचा हुआ खाना ताज़ा हालत में दूसरे को खिला सकेंगे और फिर भी साल भर बाद ताज़ा खाना पा सकेंगे।

किन्तु हम अपना यह खाना ऐसे भूखों को नहीं खिला सकते जिनके ख़ुद के भोजन का ही ठिकाना न हो। वे अगले साल हमारे लिए भोजन कहाँ से लायंगे? इसका भी इलाज है। हमें चाहे ऐसे भरोसे वाले भूखे

आदमी न मिल सकें, किन्तु हमारे बैंकर, पूँजी के दलाल या क़ानूनी सलाहकार हमारे लिए बहुत सारे कम या अधिक भरोसे वाले आदमी तलाश कर लेंगे। इनमें से कुछ बहुत धनी हो सकते हैं जिनको पेट भरा होने पर भी सदा भारी परिमाण में अतिरिक्त भोजन की ज़रूरत रहती है।

इस अतिरिक्त भोजन की ज़रूरत उन्हें किस लिये होती है ? हम भूखे आदमियों से यह आशा नहीं कर सकते कि वे हमें अगले साल भोजन दे सकेंगे; किन्तु वे तत्काल कुछ-न-कुछ ऐसा काम अवश्य कर सकते हैं जिससे आगे चलकर रुपया पैदा हो सके। उन्हें इन आदमियों से काम कराने के लिए ही अतिरिक्त भोजन की ज़रूरत होती है।

कोई भी अतिरिक्त रुपये वाला आदमी, जिसमें पर्याप्त सूझ और व्यावसायिक योग्यता हो, भूखे आदमियों से काम ले सकता है। यदि किसी आदमी के पास एक बहुत बड़ा बाग़ है जिसमें उसकी विशाल कोठी बनी हुई है, वह बाग़ एक ख़ास क़स्बे से दूसरे तक जाने वाली राह को रोके हुए है तथा उसका चक्कर काट कर जाने वाली सार्वजनिक सड़कें पहाड़ी टेढ़ी-मेढ़ी और मोटरों के लिए ख़तरनाक हैं, तो उस अवस्था में वह आदमी भूखे आदमियों को अपना अतिरिक्त भोजन देकर उनसे बाग़ के भीतर से मोटरें निकलने के लिए सड़क बनवा सकता है। जब सड़क तैयार हो चुके तो वह भूखे आदमियों को छुट्टी दे सकता है और मोटरों के लिए उसे इस शर्त पर खोल दे सकता है कि जो मोटर वाला उसका उपयोग करे वही उसे आठ आना दे। स्पष्ट है कि वे सब समय बचाना चाहेंगे और भय तथा कठिनाई से बचेंगे, अतः ख़ुशी से आठ-आठ आना देकर सड़क का उपयोग करेंगे। वह भूखों में से किसी एक को यह कर वसूल करने के काम पर नियुक्त कर सकता है। इस प्रकार वह अपने अतिरिक्त रुपये को नियमित आय में परिवर्तित कर लेगा। शहरी भाषा में उसने अपनी पूंजी से सड़क बनाने का व्यवसाय किया।

अब यदि सड़क पर आमदरफ़्त इतनी अधिक हो कि उसमे मिलने वाला रुपया और अतिरिक्त भोजन उसके पास बड़ी तेज़ी से इकट्ठे हो जाँय और वह उनको ख़र्च न कर सके (या खा न सके) तो उसे

उनको खर्च करने के नये तरीके ढूंढ़ने पड़ेंगे ताकि नया अतिरिक्त भोजन ख़राब न हो जाय। उसे भूखे आदमियों को बुलाकर फिर कुछ-न-कुछ काम देना पड़ेगा। वह उनको सड़क के किनारे-किनारे नये मकान बनाने के काम पर लगा सकता है, मकान बन जाने पर वह इस सड़क को स्थानीय अधिकारियों को सौंप सकता है जो उसे सार्वजनिक सड़क के तौर पर कर-दाताओं के पैसे से क़ायम रक्खेंगे। फिर भी वह मकानों को किराये पर उठाकर पहिले से भी अधिक अतिरिक्त रुपया प्राप्त करके नज़दीक-से-नज़दीक क़स्बे तक एक मोटर-लारी चला सकता है, ताकि उसके किरायेदार वहाँ जाकर काम कर सकें और मज़दूर रह सकें। वह उनके मकानों को प्रकाशित करने के लिये बिजली का छोटा कारख़ाना खोल सकता है, वह अपनी कोठी को होटल बना सकता है या उसको भूमिसात करके बाग़ में और उसके घेरे में नये मकान और सड़कें बनवा सकता है। भूखे आदमी उसका यह सब काम कर देंगे। उसको केवल इतना काम करना पड़ेगा कि वह उनको समय-समय पर आवश्यक आज्ञायें दे दिया करे और उनको अपने अतिरिक्त भोजन पर निर्वाह करने दे।

यदि वह इतनी व्यावसायिक योग्यता नहीं रखता है तो आवश्यक योग्यता के भूखे स्त्री-पुरुष उसके पास खुद आजायेंगे और प्रस्ताव करेंगे कि 'हम आपकी जागीर की उन्नति करेंगे और आपकी ज़मीन और पूँजी का उपयोग करने के एवज़ में साल में आपको इतना रुपया देंगे।' वे सब शर्तें उसके क़ानूनी सलाहकार के साथ तय कर लेंगे। यह भी हो सकता है कि उसको अपने हस्ताक्षर करने के अतिरिक्त अपनी छोटी अंगुली भी न हिलानी पड़े। व्यावसायिक भाषा में वह अपनी जागीर की उन्नति करने में अपनी पूँजी लगा सकता है।

ऐसा ही सारे देश में भी हो सकता है। जो लोग अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार हिस्से ख़रीदने को तैयार हों ऐसे लोगों से देश में सर्वत्र बचे हुए रुपये की लाखों छोटी-बड़ी रक़में इकट्ठी करके बड़ी-बड़ी कम्पनियां भूखे लोगों से वे खानें खुदवा सकती हैं जो समुद्र के नीचे

चली गई हैं और कोयले तक पहुँचने के लिये जिनमें बीस-बीस साल तक काम करने की आवश्यकता होती है। वे रेलें और बड़े-बड़े ऐन्जिन बनवा सकती हैं। हज़ारों आदमियों को लगा कर बड़े-बड़े कारख़ाने खड़े करके उनमें यंत्र स्थापित कर सकती हैं। समुद्र के दूसरी पार तार लगा सकती हैं। तैयारियों पूरी होने और व्यवसाय स्वाश्रयी होने तक भूखे आदमियों को खिलाने भर की ज़रूरत रहती है। इस काम के लिए कम्पनियों को जबतक अतिरिक्त भोजन उधार मिलता रहेगा तबतक उनकी कर्तृत्व-शक्ति का कोई अन्त नहीं आयगा।

कभी-कभी योजनायें असफल हो जाती हैं और अतिरिक्त भोजन के मालिक घाटे में रहते हैं, किन्तु उनको यह ख़तरा उठाना ही पड़ता है। कारण, अतिरिक्त भोजन रक्खा न रहेगा। यदि उसका उपयोग नहीं किया जायगा तो वह वैसे ही नष्ट हो जायगा। इस प्रकार बड़े-बड़े व्यवसायियों और उनकी कम्पनियों को हमेशा अतिरिक्त रुपया मिलता रहता है और बहुत ग़रीबों और थोड़े धनियों वाली यह सभ्यता हमेशा बढ़ती ही रहती है जिसमें कारख़ाने, रेलें, खानें, जहाज़, हवाई जहाज़, टेलीफ़ोन, महल, भवन, होटल और झोंपड़ियाँ सभी हैं। यह याद रखना चाहिये कि इन सब मूल-आधार खाद्य-सामग्री का बोया और काटा जाना है। सभ्यता की दीवार इसी पर खड़ी है।

अतिरिक्त पूँजी का यही चमत्कार है कि उससे जमीन और अतिरिक्त आय वाले आलसी लोग तो न जानते हुये भी अत्यधिक धनी हो जाते हैं और बिना ज़मीन वाले तथा धनहीन लोग अत्यधिक ग़रीब।

हम पूंजीवाद के लाभों से वस्तुतः इतने प्रभावित हैं कि पूँजीवाद के नाश को सभ्यता का नाश मान बैठे हैं। पूंजीवाद हमको अनिवार्य प्रतीत होता है। अतः हमें पहिले तो यह सोचना चाहिए कि पूंजीवाद की प्रणाली की हानियाँ क्या हैं और फिर यह कि कोई अन्य मार्ग भी है या नहीं।

एक तरह से दूसरा कोई उपाय नहीं है। जिन व्यवसायों को स्वाश्रयी बनाने के लिए हफ्तों, महीनों या वर्षों काम करना पड़ता है,

उन सब के लिए अतिरिक्त आजीविका की बड़े परिमाण में आवश्यकता होती है। यदि एक बन्दरगाह के बनाने में दस वर्ष या एक कोयले की खान के तैयार करने मे बीस वर्ष लगते हैं तो उनको बनाने वाले इस अर्से में क्या खाते है ? दूसरे लोगों को बिना तात्कालिक लाभ की आशा के उनके लिये ठीक उसी प्रकार भोजन,वस्त्र और घर की व्यवस्था करनी पड़ती है, जिस प्रकार माता-पिता अपने बड़े होने वाले बच्चों के लिए करते हैं। इस दिशा में हम चाहे पूंजीवाद के लिए मत दें चाहे समाजवाद के लिए, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यह प्रणाली स्वाभाविक आवश्यकता-जनित प्रणाली है जो न तो किसी राजनैतिक क्रान्ति द्वारा बदली जा सकती है और न किसी सामाजिक संगठन के किसी सम्भव उपाय द्वारा।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन कामों के लिए निजी कम्पनियाँ, जिनका उद्देश्य अत्यधिक धनियों और साधारण हैसियत के लोगों से पैसा प्राप्त करके मुनाफ़ा कमाना होता है, अतिरिक्त आय का संग्रह और उपयोग करें। अत्यधिक धनी लोगों के पास इतनी अधिक सुख-सामग्री होती है कि वे उसको ख़र्च नहीं कर सकते और साधारण स्थिति के लोग इतने दूरदर्शी होते हैं कि वे आपत्तिकाल के लिए कुछ रुपया बचा रखते हैं। निजी कम्पनियाँ इन दोनों श्रेणियों से रुपया लेकर व्यापार करती हैं।

पहिली बात तो यह है कि ऐसी बहुत सी अत्यावश्यक चीज़ें हैं जिनको निजी कम्पनियां और निजी व्यवसायी नहीं बनाते। कारण, उन चीज़ों के लिए वे लोगों से पैसा वसूल नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, यदि समुद्री प्रकाश स्तम्भ न हों तो हम समुद्र में जाने का शायद ही साहस करें, व्यापारी जहाज़ों को इतनी सावधानी के साथ और इतना धीरे-धीरे जाना पड़े और उनमें से इतने सारे नष्ट हो जायँ कि जो माल वे लाते-ले जाते हैं उसकी क़ीमत इस समय की अपेक्षा कहीं अधिक हो। इसलिए समुद्री प्रकाश-स्तम्भों से हम सब को और जो लोग कभी समुद्र में नहीं गये और न जाने की आशा ही रखते हैं उन तक को भी बहुत

लाभ पहुँचता है, किन्तु पूँजीवादी प्रकाश-स्तम्भ कभी नहीं बनायेंगे। यदि प्रकाश-स्तम्भों के मालिक उनके पास से निकलनेवाले जहाज़ों से पैसा वसूल कर सकते तो वे समुद्र-तटों और चट्टानों पर प्रकाश-स्तम्भ बड़ी तेज़ी से बना डालते। किन्तु ऐसा नहीं हो सक्ता, अतः वे समुद्री किनारों और चट्टानों को अँधेरे में ही छोड़ देते हैं। इसी कारण सरकार बीच में पड़ कर जहाज़ों से प्रकाश की क़ीमत के तौर पर अतिरिक्त आय का संग्रह करती है (जो शायद ही न्याय्य है। कारण, प्रकाश-स्तम्भों से सभी को लाभ पहुँचता है) और प्रकाश-स्तम्भ बनाती है। इंग्लैण्ड-जैसे सामुद्रिक देश के लिये जो चीज़ जीवन की प्रथम आवश्यकताओं में से है पूँजीवादी उसी की व्यवस्था करने में असफल हुये हैं।

किन्तु पूँजीवादी बहुधा ऐसे आवश्यक कार्य भी नहीं करते हैं जिनके द्वारा प्रत्यक्ष रीति से कुछ रुपया पैदा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हम बन्दरगाह को ही ले लें। हरएक जहाज़ को बन्दरगाह में आने की फ़ीस देनी होती है, अतः कोई भी बन्दरगाह वाला रुपया कमा सकता है। किन्तु बन्दरगाह बनाने में कई वर्ष लगते हैं, समुद्र में लहरों के वेग को तोड़ने के लिये, दीवारें बनानी होती हैं, समुद्र में आने-जाने के लिए मंच बनाने होते हैं, तूफ़ान के समय बने काम के बिगड़ जाने का डर भी रहता है और फिर बन्दरगाह की फ़ीस एक निश्चित सीमा से अधिक नहीं ली जा सकती। यदि ऐसा किया जाय तो जहाज़ सस्ते बन्दरगाहों में जा सकते हैं। इन्हीं बातों के कारण निजी पूँजी बन्दरगाहों के निर्माण में नहीं लगती। वह ऐसे व्यवसायों में लगती है जहां ख़र्च की रक़म अधिक निश्चित होती है, देर कम लगती है और अधिक रुपया पैदा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए शराबख़ानों से बहुत लाभ होता है और शराब के तत्काल बिक जाने की सदा ही आशा रहती है। किसी बड़े शराब के कारख़ाने का ख़र्च अनुमान करते समय अधिक-से-अधिक सौ गिन्नी कम या अधिक आंका जा सकता है, किन्तु एक बड़ा बन्दरगाह बनाने में कितना ख़र्च होगा इसका अनुमान करते समय लाखों की भूल हो सकती है। इस सब का किसी भी सरकार पर कोई असर नहीं होता।

कारण, उसे यह सोचना होता है कि राष्ट्र के भले के लिए शराब का दूसरा कारख़ाना अधिक आवश्यक है या दूसरा बन्दरगाह। किन्तु निजी पूंजीपतियों को राष्ट्र के भले की चिन्ता नहीं करनी होती। उनको तो केवल इतना ही सोचना होता है कि अपने और अपने कुटुम्ब के प्रति उनका क्या कर्तव्य है। यह कर्तव्य है अपना रुपया अधिक-से-अधिक सुरक्षित और लाभकारी व्यवसाय में लगाना। इसके अनुसार यदि इंग्लैण्ड के लोग पूंजीपतियों के ही भरोसे रहते तो वे अपने देश में बन्दरगाह न बना पाते।

निजी पूँजीपति केवल यही नहीं देखते कि किस काम मे अधिक-से-अधिक रुपया पैदा हो सकता है। वे यह ध्यान भी रखते हैं कि किस काम में कम-से-कम कठिनाई होती है अर्थात् वे कम-से-कम रुपया और श्रम ख़र्च करना चाहते हैं। यदि वे कोई चीज़ बेचते हैं या कोई काम करते हैं तो उसे सस्ते-से-सस्ते के बजाय महंगे-से-महंगा बना देते हैं। विचारहीन लोग कहते हैं कि जितनी कम क़ीमत होती है उतनी ही अधिक बिक्री होती है और जितनी अधिक बिक्री होती है उतना ही अधिक मुनाफ़ा होता है। यदि पूंजीपति ऐसा करें तो इसमें कोई हर्ज़ न हो; किन्तु वे ऐसा नहीं करते, क्योंकि कुछ उदाहरणों में यह ठीक हो सकता है कि जितनी कम क़ीमत हो उतनी ही अधिक बिक्री होगी। किन्तु यह सही नहीं है कि जितनी अधिक बिक्री होगी उतना ही अधिक मुनाफ़ा होगा। क़ीमत की घटा-बढ़ी के अनुसार ही यदि बिक्री के परिमाण में भी घटा-बढ़ी हो तो मुनाफे में कोई अन्तर न पड़ेगा।

हम विदेशों को ख़बर भेजने के लिए समुद्र के आरपार लगाये गये तार का उदाहरण लेते हैं। कम्पनी उन ख़बरों के लिये प्रति शब्द कितना पैसा वसूल करे? यदि प्रति शब्द एक रुपया लिया जाय तो बहुत कम लोग ख़बरें भेज सकेंगे और यदि एक आना लिया जाय तो तार पर दिन और रात ख़बरों का ढेर लगा रहेगा। सम्भव है फिर भी मुनाफ़ा वही हो। यदि ऐसा हो तो एक आना प्रति शब्द के हिसाब से २५० शब्द भेजने की अपेक्षा एक रुपये का एक शब्द भेजना कम तकलीफ़ का काम

होगा।

इंग्लैण्ड में साधारण तार सर्विस जब निजी कम्पनियों के हाथ में थी तो वह मर्यादित और ख़र्चीली थी। जब सरकार ने उसको अपने हाथ में ले लिया तो उसने तार की लाइनों का न केवल दूर-दूर तक विस्तार ही किया, बल्कि उसको सस्ता बनाया और मुनाफ़ा नहीं उठाया। पूंजीपतियों की भाषा में वस्तुतः उसको घाटे पर चलाया। उसने ऐसा इसलिए किया कि तारों का सस्ता भेजा जाना सारे समाज के लिये इतने लाभ की बात थी कि उससे राष्ट्र को लाभ हुआ। वस्तुतः तार भेजने वालों से ली जाने वाली क़ीमत को लागत मूल्य से कम करके घाटे की पूर्ति सार्वजनिक करों से करना अधिक न्यायपूर्ण भी था।

इस प्रकार की अत्यन्त वाञ्छनीय व्यवस्था निजी पूंजीवाद की शक्ति के बिल्कुल बाहर की बात है। पूंजीवादी अधिक-से-अधिक मुनाफ़ा कमाने के लिए क़ीमतें यथोसाध्य ऊंची रखते हैं। उनके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं जिसके द्वारा वे लागत मूल्य उन सब लोगों पर डाल सकें जिनको लाभ पहुँचता है। जो लोग प्रत्यक्ष रूप से चीज़ ख़रीदते हैं या किसी साधन का उपयोग करते हैं उन्हीं पर ख़र्च का सारा बोझ उन्हें डालना पड़ता है। यह ठीक है कि व्यवसायी लोग तारों और टेलीफ़ोनों का ख़र्च चीज़ों की क़ीमत के रूप में अपने ग्राहकों पर डाल सकते हैं। किन्तु तार और टेलीफ़ोनों के काम का अधिकतर हिस्सा व्यवसाय से सम्बन्ध नहीं रखता। उसका ख़र्च भेजनेवाले और किसी पर नहीं डाल सकते। सब-का-सब ख़र्च सार्वजनिक कोष पर डालने के विरुद्ध केवल एक ही आपत्ति है। वह यह कि यदि हम बिना पर्याप्त रुपया दिये चाहे जितने लम्बे तार भेज सकेंगे तो हम जहां डाक से काम चल सकेगा वहां भी तार से ही काम लेंगे और उसमें हर ख़बर के अन्त में अपनी राज़ी ख़ुशी के समाचार भी अवश्य लिख दिया करेंगे।

इन बातों को सभी को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। कारण, अधिकांश आदमी इतने सीधे होते हैं कि निजी पूंजीपति उन्हें सचमुच यह समझा देते हैं कि पूँजीवाद से मुनाफ़ा होता है, इसलिए वह सफल

व्यवस्था है और सार्वजनिक व्यवस्था (अर्थात् समाजवाद) असफल। कारण, उससे मुनाफ़ा नहीं होता। मूर्ख लोग भूल जाते हैं कि मुनाफ़ा उन्हीं की गांठों में से आता है, इसलिए मुनाफे की बात जहाँ निजी पूँजीपतियों के लिए अच्छी है वहां उनके ग्राहकों के लिए ख़राब है। मुनाफ़ा नहीं होता, इसका इतना ही अर्थ है कि अतिरिक्त मूल्य नहीं लिया जाता।

: ४ :

पूँजी के अत्याचार

पूँजीपतियों ने निजी पूँजी से भूखे लोगों को काम पर लगा कर उद्योग-धन्धों में क्रान्ति कर दी है। उन्होंने कुटिया में बैठे-बैठे हाथ-कर्घे पर कपड़ा बुनने वाले जुलाहे का काम अपने हाथ में ले लिया उद्योगो मे है और उसे वाष्प द्वारा संचालित ख़र्चीले यांत्रिक कर्घों वाली बड़ी-बड़ी मिलों में बड़े पैमाने पर करना शुरू कर दिया है। उन्होंने चक्की वाले की पनचक्की और पवनचक्की छीन ली है और उसके बजाय अपनी बड़ी बड़ी इमारतों में लोहे के बेलनों और शक्तिशाली इन्जिनों वाली मिलें खड़ी कर दी हैं। उन्हों ने लुहार के घन को हटा कर उसकी जगह 'ने' स्मिथ का आविष्कृत भारी घन चलाना शुरू कर दिया है जिसको हज़ारों लुहार मिल कर भी नहीं उठा सकते। उनके कारख़ानों में लोहे की भारी-भारी चद्दरें इतनी आसानी से कतरी जाती हैं और लोहे के मोटे-मोटे डंडे इतनी आसानी से काटे जाते हैं जितनी आसानी से अपने हाथ से काम करने वाला लुहार एक मामूली डिब्बे का ढक्कन भी नहीं खोल सकता। उनके बनाये लोहे के भारी-भारी जहाज़ कलों के ज़ोर से समुद्र में तैरते हैं। उनके फ़ौलाद और कंकरीट से तले ऊपर बनाये हुये ऐसे-ऐसे मकान होते हैं जिन में सौ-सौ परिवार बड़े आराम से रह सकते हैं। उन्होंने उन में ऊपर जाने के लिये सिढ़ियों की ज़रूरत नहीं रक्खी; खटोलों का प्रबन्ध कर दिया है जिन में बैठ कर उन में रहने वाले लोग सुखपूर्वक ऊपर चले जाते हैं और अपनी-अपनी

मंजिलों में उतर जाते हैं। वे हमें ऐसे यंत्र देते हैं जो हमारे घरों को झाड़-बुहार देते हैं। वे बिजली से हमारे घरों को प्रकाशित करते हैं और जहां जरूरत होती है वहां गरमी भी पहुँचा देते हैं। उनकी दी हुई गरमी से हम अपने घरों में चाहे जो चीज़ उबाल सकते हैं, खाना पका सकते हैं और उनके दिये हुए ऐसे यंत्र पर रोटी सेक सकते हैं जो सिक जाने पर रोटी को तुरन्त एक तरफ़ फेंक देता है, जलने नहीं देता। इन सब चीजों को वे यंत्रों की मदद से बनाते हैं। जूते, घड़ियाँ, पिनें, सुइयां आदि-आदि सभी चीज़ों के निर्माण में वे यंत्रों का उपयोग करते हैं। वे फ़ीता भी यंत्र से बनाते हैं और एक दिन में इतना बनाते हैं जितना हाथों से हज़ार औरतें भी नहीं बना सकतीं।

ये यन्त्र-निर्मित चीज़ें शुरू-शुरू में हाथ बनी चीज़ों के मुक़ाबिले में ख़राब होती हैं, कभी कुछ अधिक अच्छी हो जाती हैं और कभी समान रूप से अच्छी होती हैं, कभी कम क़ीमत में मिलने के कारण ख़रीदने योग्य होती हैं और कभी दीर्घकालीन स्पर्धा के कारण हाथ-बनी चीज़ों का निर्माण बन्द हो जाने से केवल वे ही मिलती हैं। कारीगरों के छोटे-छोटे दल पुरानी कारीगरियों को ज़िन्दा रखने की कोशिश अवश्य करते हैं, फिर भी हम बड़े-बड़े उद्योगों पर आश्रित हो जाते हैं और अन्त में हाथों से चीज़ें बनाना भूल जाते हैं। इन यंत्र-निर्मित चीज़ों के बिगड़ जाने पर प्रायः इनके सुधार वाले भी नहीं मिलते, इस कारण हमें उनको फेंक कर नई चीज़ें ख़रीदनी पड़ती हैं जिससे हमारी दुहरी हानि होती है। देखने में तो यह आता है कि यंत्रों की स्पर्धा के कारण हाथ की कारीगरियों के मिट जाने से अधिकतर लोग सस्ती और रद्दी चीज़ें काम में ला रहे हैं।

बड़े-बड़े पूँजीपतियों ने इन यांत्रिक साधनों से सम्पन्न होकर छोटे-छोटे साधनहीन उत्पादन-कर्त्ताओं को दुनिया से उठा देने की कोशिश की है। बिना भूखे लोगों की मदद के विविध-यंत्रों से युक्त इन मिलों को कदापि खड़ी नहीं कर सकते थे। मजदूरों ने इन यंत्रों का आविष्कार किया और पूँजीपतियों ने उन आविष्कारों को उनसे सस्ता ख़रीद लिया; क्योंकि

ऐसे आविष्कारक कम होते हैं जो पूँजीपतियों से अपने आविष्कार की पूरी क़ीमत वसूल कर सकें। उन्हें कई वार तो अपने आविष्कार का अधिक भाग आवश्यक नमूनों और परीक्षणों का व्यय चुकाने के लिये कुछ सौ रुपयों में ही वेच देना होता है। कोई-कोई यन्त्रकला, निर्माण-कला तथा संगठन-कला में दक्ष मज़दूर खुद ही व्यवसायियों द्वारा ख़रीद लिये जाते हैं। वे उनके आविष्कारों की अच्छी-सी क़ीमत देकर व्यवसाय में शामिल कर लिये जाते हैं, किंतु सीधे-सादे आविष्कार का भाग्य ऐसा नहीं होता। यूरोप में पूँजीपतियों ने चौदह साल के वाद सव आविष्कारों को राष्ट्रीय सम्पत्ति वनाने का एक साम्यवादी क़ानून भी जैसे-तैसे वनवा लिया है। इस अवधि के वाद वे आविष्कारकों को विना कुछ दिये उनके आविष्कारों का उपयोग कर सकते हैं, इस प्रकार वे शीघ्र ही मान वैठते हैं कि इन यन्त्रों का आविष्कार स्वयं उन्होंने ही किया है और उनसे जो कमाई होती है, वह भी उनकी अपनी कमाई है।

यदि निजी रुपया अयोग्य हाथों में न होता तो यह अयोग्य विभाजन भी न हो पाता। यदि वह राष्ट्र के हाथ में होता और वह उसका उपयोग सर्व-साधारण के हित के लिये करता तो भारी पूँजी से व्यवसायों का संचालन विशुद्ध लाभ की वात होती। उससे आज की जैसी भयंकर स्थिति कभी पैदा न होती।

अव भारी पूँजी से व्यवसायों का संचालन स्थायी हो चुका है। चार पैसे में धागे की गिट्टी मिल सके इसके लिए लाखों की पूँजी लगा दी जाती है, किन्तु समाजवादी व्यवस्था में ये लाखों रुपये निजी नहीं, सार्वजनिक कोप से लगेंगे और धागे की गिट्टी का मूल्य दो पैसे से भी कम पड़ेगा। संक्षेप में, पूँजी से व्यवसाय चलाना एक वात है और पूँजीवाद विल्कुल दूसरी वात। यदि हम पूँजी को अपने नियन्त्रण में रक्खें तो व्यवसाय विशेप के लिये भारी पूँजी के संग्रह से हमको कोई हानि न पहुंचेगी।

पूँजी का न तो कोई अन्तःकरण होता है और न कोई देश। पूँजीवादी यदि अपने देश में मद्य-निपेध क़ानून द्वारा मुनाफ़ा कमाने से

रोक दिए जायें तो वे अपनी पूँजी किसी असभ्य देश में भेज सकते हैं,

विदेशों में

जहां वे मनमानी करने को स्वतंत्र होते हैं। इंग्लैण्ड के पूँजीवादी पहले हल्की शराब द्वारा अपने ही देश को तबाह कर रहे थे, जब क़ानून द्वारा उनको ऐसा न करने के लिए विवश किया गया तो उन्होंने लाखों काले आदमियों का पृथ्वी-तल से नामनिशान मिटा दिया। यदि उनको यह नहीं मालूम हुआ होता कि काले स्त्री-पुरुषों को विष देने की अपेक्षा बेच डालने में अधिक लाभ है तो उन्होंने अफ्रीका को शराबियों की हड्डियों से ढका हुआ रेगिस्तान बना डाला होता। शराब के व्यवसाय में लाभ तो था, किन्तु गुलामों का व्यवसाय उससे भी अधिक लाभकारी था। इसलिए उन्होंने हब्शियों को जहाज़ों में भर-भर कर गुलामों की तरह बेचा और ख़ूब मुनाफ़ा कमाया। यदि यह व्यवसाय क़ानूनन निषिद्ध न ठहराया गया होता तो शायद अबतक भी पूँजीपति उससे विमुख न होते।

अवश्य ही इंग्लैंण्ड के पूँजीपतियों ने यह काम स्वयं अपने हाथों से नहीं किया। उन्होंने सिर्फ़ अपनी पूँजी इस काम में लगाई। यदि उन्हें शराब की अनिस्बत लोगों को दूध पिलाने में और लोगों को गुलाम बनाने की बनिस्बत ईसाई बनाने में अधिक मुनाफ़ा होता तो निस्संदेह उन्होंने दूध और बाइबिलें बेचने के व्यवसाय ही किये होते।

जब शराब की हद हो गई और गुलामों के व्यवसाय की भी इति हो गई तो उन्होंने मामूली उद्योगों को अपने हाथों में लिया। उन्होंने सोचा कि हब्शियों को गुलाम बना कर बेचने की अपेक्षा उनसे काम लेने से भी मुनाफ़ा हो सकता है। उन्होंने अपनी राजनैतिक सत्ता द्वारा ब्रिटिश सरकार को अफ्रिका के विशाल भू-भागों पर क़ब्ज़ा करने और वहाँ के निवासियों पर ऐसे भारी-भारी कर लगाने के लिए प्रेरित किया जिन्हें वहाँ के लोग अंग्रेज़ पूँजीपतियों का काम किये बिना अदा नहीं कर सकते थे। इस तरह अंग्रेज़ पूँजीपतियों ने ख़ूब रुपया कमाया। साम्राज्य का विस्तार किया। वे व्यवसाय के पीछे अपना झंडा और झण्डे के पीछे अपना व्यवसाय ले गए। परिणाम यह हुआ कि जिन देशों का थोड़ा

विकास हुआ था वे पूँजीवाद के भयंकर परिणामों के बुरी तरह से शिकार हुए।

जिस पूँजी से इंग्लैण्ड की उत्पादक शक्ति बढ़ाई जा सकती थी, जिससे समाज के लिए कलंक रूप ग़रीब मुहल्लों के झोंपड़ों की हालत सुधारी जा सकती थी, उसके विदेश जाने से इंग्लैण्ड में बेकारी की वृद्धि हुई, लोगों को विदेशों में जाना पड़ा और इंग्लैण्ड को बड़ी-बड़ी जल और स्थल सेनायें रखनी पड़ीं। उनके मुकाबिले के लिए दूसरों को भी भारी-भारी सेनायें रखनी पड़ीं जिनसे अंग्रेजों को सदा भय रहता है। अंग्रेजी पूंजी से विदेशों में उद्योगों का विकास किया गया है जिससे इंग्लैण्ड की स्वावलम्बन शक्ति नष्ट होती है। दक्षिण अमेरिका में रेलें, खानें, और कारख़ाने बनाने में अंग्रेज पूंजीपतियों ने जितना धन ख़र्च किया है यदि इसका थोड़ा हिस्सा भी उन्होंने इंग्लैण्ड के प्राकृतिक बन्दरगाहों तक सड़कें बनाने में और स्काटलैण्ड तथा आयर्लैण्ड के निरुपयोगी समुद्रतटों को उपयोगी बनाने में ख़र्च किया होता तो ब्रिटिश टापुओं के लोग बेकारी से पीड़ित न होते।

लोग कह सकते हैं कि ब्रिटिश टापुओं में इन भयंकर हानियों के होते हुए भी, उनकी जो पूंजी बाहर गई है उसका मुनाफ़ा तो आता ही है जिससे उनके बाशिन्दों को काम मिलता है। जितना रुपया पूँजी के रूप में बाहर जाता है उससे अधिक रुपया निस्सन्देह उन टापुओं में मुनाफ़े के रूप में बाहर से आता है; किन्तु दूसरों के श्रम पर निर्वाह करना तो परोपजीवी कंगाल होना है। यदि उन लोगों ने अपनी पूँजी को विदेशों में न भेज कर स्वदेश में ही ख़र्च किया होता तो उससे उतनी ही आय होती जितनी कि विदेशों में होती है। यह हो सकता है कि पूँजीपतियों को उसका उतना हिस्सा न मिल पाता।

इंग्लैण्ड की पूँजी विदेशों में जाने से उनकी औद्योगिक उत्पत्ति बढ़ती है जिसका परिणाम यह होता है कि इंग्लैण्ड का कोई कारख़ाना, खपत का बाज़ार उसके हाथ से निकल जाने से बन्द हो जाता है तो उसके मजदूर बेकार हो जाते हैं। वे उस अवस्था में विदेशों से मुनाफ़ा कमाने वाले

वाले लोगों के यहां घरेलू नौकरों का काम कर सकते हैं, शौक़ीनी की चीज़ों की दुकानों पर सहायक रह सकते हैं; स्त्रियाँ होटलों में, सिलाई की दुकानों में, बढ़िया खाने पकाने वालों के यहां और ऐसे ही दूसरे कामों में जिनकी धनिकों को ज़रूरत हो सकती है; नौकरी कर सकती हैं; किन्तु वे यकायक इन कामों को नहीं कर सकतीं, क्योंकि उन्हें वे काम आते नहीं। हां, उनके लड़के-लड़कियां ज़रूर अभ्यास से इन कामों को कर सकते हैं और अपने कारख़ानों में मज़दूरी करने वाले माँ-बापों से, जो अब बेकार हैं, अधिक अच्छी हालत में रह सकते हैं। यह भी हो सकता है कि कुछ समय बाद कारख़ाने वाले स्थानों में धनिकों के आमोद-प्रमोद के लिये बाग़ लहलहाएँ और खानों के स्थान फिर रमणीक हो जायँ, क्योंकि इंग्लैण्ड की पूंजी के बाहर जाने से उन में काम करना बन्द हो सकता है। जिन लोगों को इन में काम मिल जाय, वे इन परिवर्तनों को सुपरिवर्तन भी कह सकते हैं, किन्तु बात वास्तव में यह होगी कि तब इंग्लैण्ड विदेशी श्रम पर निर्भर रह कर जल्दी-से-जल्दी विनाश की ओर जा रहा होगा।

यदि कोई राष्ट्र अपने असंस्कृत मिल-मज़दूरों को सुशिक्षित, अच्छे कपड़े पहिनने वाला और अच्छा खाने वाला तथा अच्छी तरह से रहने वाला मिल-मज़दूर बना दे, उनका योग्य सम्मान करे, जो सम्पत्ति वे पैदा करते हैं उसका उचित भाग उनको दे तो इस परिवर्तन द्वारा वह अधिक सबल, धनी, सुखी और पवित्र बनेगा, किन्तु यदि वह उनको नौकरों और नौकरानियों में परिवर्तित कर दे तो वह अपनी ही कमर तोड़ेगा। वह आलसी और विलासी बन जायगा और किसी दिन उस की ऐसी हालत हो जायगी कि विदेशों से निर्वाह के लिये जो रक़म उसे मिलती है, वह उसे भी वसूल न कर सकेगा। वे देश जब उसको पोषण देने से इन्कार कर देंगे तो वह स्वावलम्बन की आदत न रहने की दशा में भूखों मरेगा।

और भूखे लोग क्या नहीं करेंगे? जिन लोगों के पुराने धन्धे छिन

जायंगे और जो बुढ़ापे के कारण नये धन्धे न सीख सकेंगे वे चाहे कितने ही प्रतिष्ठित राजनैतिक विचार क्यों न रखते हों, ख़तरनाक आदमी सिद्ध होंगे। भूखे आदमी भूख के मारे प्राण देने के बजाय पुलिस पर हावी होने जितनी सख्या देखेंगे तो दंगे करेंगे, धनिकों को लूटेंगे और जलायेंगे। सरकार को उलट देने का प्रयत्न करेंगे।

इंग्लैण्ड में बेकारों को बेकार-वृत्तियें दी जाती हैं, लोगों को सन्तति-नियमन के लिए प्रोत्साहित किया जाता है और विदेशों में चले जाने के लिए सरकारी सहायता दी जाती है। यह है पूँजीवाद का विलक्षण परिणाम। पूंजीवाद के कारण देश के लोग ही देश की उन्नति में बाधक हो जाते हैं, उन्हें कीड़ों-मकोड़ों की तरह दूर फेंकना पड़ता है। दूसरी ओर पूंजीपति और उनके नौकर विदेशों से आई हुई भोजन-सामग्री तथा विलासिता के अन्य साधनों पर आलसी जीवन व्यतीत करते हैं। उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ख़र्च अन्धाधुन्ध किया जाता है, विशाल बाग़-बग़ीचे लगाये जाते हैं और भव्य अट्टालिकायें बनाई जाती हैं।

ऐसे स्थायी परोपजीवी राष्ट्र की स्थापना न तो कभी हुई और न कभी होगी जिसमें सब श्रमिक पूंजीपतियों की दौलत के भागीदार होने के कारण सुखी और सन्तुष्ट हों। यदि पूंजीपति इतना ध्यान रखने लगेंगे कि उनके देशवासी सब स्वस्थ और सुखी रहें तो वे समाजवादी ही हो जायेंगे। किन्तु वास्तविक बात यह है कि वे इतनी दिक़्क़तें मोल नहीं ले सकते। अपने नौकर-चाकरों को यदि अपने ही समान रखने की चिन्ता की जाय तो फिर पूंजीपति रहने में क्या मज़ा रह जायगा? हाँ, नौकरों को तो इससे अवश्य सुविधा हो जायगी; क्योंकि उनकी फ़िक्र करने वाले भी दूसरे ही होंगे। इन्हीं असुविधाओं से बचने के लिए तो इंग्लैण्ड में धनिक वर्ग के कितने ही लोग अपने सम्पन्न घरों को छोड़ कर होटलों की शरण लेते हैं, क्योंकि वहाँ उनको अपने नौकरों की चिन्ता करने के बजाय कुछ इनाम-इकराम देने पर ही झंझटों से मुक्ति मिल जाती है। अतः पूंजीवाद में असमानता, बेकारी, रक्तशोषण, समाज का वर्गों में विभाजन, तथा तज्जनित सन्तति रोग आदि बुराइयों का मूल तो

रहेगा ही।

सभ्य देशों में जब कारख़ानों की बनी चीज़ों की खपत पूरी हो चुकती है तो पूँजीपतियों के पास केवल यही मार्ग रह जाता है कि वे अपनी चीज़ों को विदेशों में भेजें। किन्तु सभ्य देश तो भारी-भारी टटकर लगा कर विदेशी चीज़ों को अपने भीतर आने नहीं देते। संरक्षणशून्य असभ्य देश ही ऐसे रह जाते हैं जहां वे अपनी चीज़ों को खपा सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में

जिन देशों के लोग सीधे-सादे होते हैं उन्हें पूंजीपति और उनके कारिन्दे ख़ूब लूटते हैं और तंग करते हैं। जब वे लोग उनका मुकाबिला करते हैं तो वे अपनी शक्ति से उन्हें जीत लेते हैं और उन पर राज्य करने लग जाते हैं। इस तरह वे अपना व्यापार बढ़ाने के लिए सदा नया-नया क्षेत्र हथिया लेने की ताक में रहते हैं और जब मौक़ा मिलता है तभी अपना साम्राज्य बढ़ाते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना ऐसे ही हुई है।

किन्तु अकेला ब्रिटिश साम्राज्य ही होता तो कोई बात नहीं थी। ब्रिटिश साम्राज्य के अलावा भी दुनिया में ऐसे देश हैं जिन में साम्राज्यवादी स्वप्नदर्शी और विदेशी बाज़ारों में फैलने की चेष्टा करने वाले अत्यन्त कुशल व्यापारी रहते हैं जिनकी पीठ ठोंकने को उनमें बड़ी-बड़ी स्थल-सेनायें और जल सेनायें भी होती हैं। जल्दी या देर से जब वे अपनी सीमाओं को अफ्रीका और एशिया में बढ़ाते हैं तो उनमें आपस में संघर्ष पैदा होता ही है। एक बार अफ्रीका में इंग्लैण्ड और फ्रांस में लड़ने की नौबत आई थी, किन्तु पीछे उन्होंने सूडान को आधा-आधा बाँट कर उसे टाल दिया। इसके पहिले फ्रांस अल्जीरिया और वास्तव में तुनसिया को ले चुका था और स्पेन मोरक्को में घुस रहा था। इटली ने त्रिपोली पर धावा बोल दिया था और इंग्लैण्ड ने मिश्र और भारतवर्ष को खा लिया था। जर्मनी ने देखा कि अब उसके लिए कुछ नहीं रहा है तो उसने सन् १९१४ में युद्ध का ऐलान कर दिया। सन् १९१८ तक ख़ूब लड़ाई हुई। एक ओर इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली था तो दूसरी ओर जर्मनी। जर्मन कारख़ानों की बनी चीज़ें खपाने के लिए जर्मनी को

बाज़ारों की ज़रूरत थी जिन पर जर्मनी का प्रभुत्व हो । यह लड़ाई वास्तव में इसीलिए हुई थी । अन्य देशों ने जो लड़ाई में भाग लिया वह तो एक-दूसरे की सहायता करने के लिए था ।

उस युद्ध मे बड़ा भीषण जन-संहार हुआ, लाखों लोग मारे गए । उस सब का कारण दोषयुक्त पूंजीवादी पद्धति ही थी । जिन चीज़ों की इंग्लैण्ड में बिक्री न होती थी उन चीज़ों को मुनाफे पर बेचने के लिए जो पहिला जहाज़ अफ्रीका गया उसने ही इस युद्ध की शुरुआत की थी और यदि हमने आजीविका के लिए पूँजीवादियों की नीति का ही अनुसरण किया तो आगे जितने भी युद्ध होंगे उनकी भी शुरुआत वही करेगी ।

किन्तु इसमें विदेशी व्यापार का दोष नहीं है । उन्नत सभ्यता की ऐसी कितनी ही चीज़ें है जो राष्ट्रों को अपनी सीमाओं के भीतर उपलब्ध नहीं हो सकतीं । वे उन्हे एक-दूसरे से ख़रीदनी होती है । इसलिए हमे दुनिया मे सर्वत्र व्यापार और यात्रा करनी चाहिए और एक-दूसरे के सम्पर्क मे आना चाहिए । किन्तु इन पूंजीपति व्यापारियों का इसके अलावा और कोई उद्देश्य न था कि जिन देशों में उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया था उन देशों के लोगों से भरसक मुनाफ़ा कमाया जाय । उन्होंने अपने देशों को इसलिए छोड़ा था कि उन में अधिक मुनाफ़े की गुँजाइश न थी, अतः यह नहीं माना जा सकता कि वे अपना किनारा छोड़ते ही अपने स्वार्थ-भाव को भी वहीं छोड़ आए थे । यद्यपि उन्होंने दुनिया में चिल्ला-चिल्ला कर कहा कि वे उन देशों को, जिन पर वे राज्य करते है और जिन मे रहने वाले लोगों से ख़ूब मुनाफ़ा कमाते हैं, सभ्य बना रहे हैं; किन्तु जब उन देशों के बाशिन्दे सभ्य हो कर अपना राज्य स्वयं चलाने योग्य हो गए तो उन्होंने उनके देशों का प्रबन्ध उन्हें सौंपने से इन्कार कर दिया । उन्होंने कहा, 'हम अपने जीते हुये प्रदेशों को योंही न दे देंगे । हम उनकी रक्षा अपने लोहू की अन्तिम बूंद गिरा कर करेंगे ।' किन्तु फिर भी आधा उत्तरी अमेरिका इंग्लैण्ड वालों के हाथ से निकल गया । आयर्लैंण्ड, मिश्र और दक्षिण अफ्रीका ने स्वशासन का

अधिकार बलपूर्वक अंगरेज़ों से ले लिया। आज भारतवर्ष को अपनी स्वाधीनता के लिए पूंजीवाद से ही संघर्ष करना पड़ रहा है।

इंग्लैंण्ड आदि देशों में कभी पिनें बनाने वाले कारीगर बाज़ार से आवश्यक सामग्री ख़रीद कर पिन बनाने की शुरू से लेकर आख़ीर तक सब क्रियायें पूरी कर लेते थे, और बाज़ार में या घरों में जाकर उन्हें
बेच भी आते थे। किन्तु पीछे जब उद्योगों में अर्थशास्त्र
व्यक्तिगत जीवन के अनुसार विशेषीकरण हुआ तो उसी एक पिन के
में बनाने में शुरू से लेकर आख़ीर तक अठारह आदमी
लगाये जाते थे। हरएक आदमी पिन बनाने के काम का एक ख़ास हिस्सा ही करता था। फलतः उनमें से कोई भी पहिले के कारीगरों की तरह पूरी पिन नहीं बना सकता था, न उसके लिए सामग्री ख़रीद सकता था और न पिन तैयार होने पर उसे बेच ही सकता था। स्पष्टतः वह पुराने कारीगरों की अपेक्षा कम योग्य और कम जानकारी रखने वाला होता था। किन्तु इसमें एक लाभ यह था कि एक काम का एक ही हिस्सा बारबार करते रहने से वह अपने काम को बड़ी जल्दी-जल्दी कर सकता था। अठारह आदमी मिलकर दिन भर में क़रीब ९ हज़ार पिनें बना सकते थे। इस कारण वे उन्हें पहिले के कारीगरों की पिनों की अपेक्षा अधिक सस्ती और बहुतायत से दे सकते थे।

किन्तु इस पद्धति का परिणाम यह हुआ था कि योग्य आदमियों की योग्यता नष्ट हो गई थी और वे मशीनों की तरह से बिना बुद्धि का उपयोग किये काम करते थे। जिस प्रकार ऐंजिन को चलाने के लिए उसमें कोयला डाला जाता है वैसे उनसे काम कराने के लिए उनके पेटों को पूंजीपतियों के अतिरिक्त भोजन से भरा जाता था। इसीलिए गोल्डस्मिथ ने कहा था कि इस 'पद्धति से एक ओर तो धन-संग्रह होता है और दूसरी ओर मनुष्यों का नाश।'

आज उन अठारह हाड़-माँस की मशीनों का स्थान लोहे की मशीनों ने ले लिया है जो लाखों पिनें तैयार करती हैं। पिनों को गुलाबी काग़ज़ में लगाने तक का काम मशीनें ही करती है। फलस्वरूप सिवा मशीनों

के बनाने वालों के कोई यह नहीं जानता कि पिनें कैसे तैयार होती हैं अर्थात् पिनें बनाने वाले पुराने कारीगरों की अपेक्षा आजकल के पिन बनाने वाले दशांश भी योग्य नहीं हैं। इसके द्वारा हमें जो प्रतिफल मिलता है वह यही कि पिनें अत्यधिक सस्ती हो गई हैं। उनके लागत मूल्य पर बहुत सारा मुनाफ़ा चढ़ा देने पर भी एक आने में दर्जनों पिनें ख़रीदी जा सकती हैं।

सस्ती होने से टनों पिनें लापर्वाही से फेंक दी जाती हैं। इससे श्रमिकों की निपुणता का नाश होता है और वे पतित होते हैं, किन्तु इसका इलाज पूर्वस्थिति पर लौट जाना नहीं है। कारण, यदि आधुनिक मशीनों के प्रयोग से बचने वाले समय का समान विभाजन हो तो वह पिनें बनाने या ऐसे ही दूसरे कामों की अपेक्षा उच्चतर कामों में ख़र्च किया जा सकता है। जबतक यह न हो तबतक स्थिति यह है कि पिनें बनाने वाले मज़दूर स्वयं अपने आप कुछ नहीं बना सकते। वे अज्ञ और असहाय हैं। जबतक उनको काम पर लगाने वाले उनके लिए सारी व्यवस्था न कर दें तबतक वे अपनी छोटी अंगुली भी नहीं हिला सकते। किन्तु जिन मशीनों से उनको काम देने वाले काम कराते हैं उनके विषय में वे ख़ुद भी कुछ नहीं समझते, वे दूसरों को पैसा देकर उनसे मशीन वालों की सूचनाओं के अनुसार मशीनें चलवाते हैं।

कपड़े आदि अन्य चीज़ों के उद्योगों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है। उनमें हज़ारों सम्पत्ति के मालिक और लाखों मज़दूरी पर काम करने वाले श्रमिक हैं, किन्तु उनमें एक भी आदमी ऐसा नहीं है जो कोई चीज़ बना सके या बिना किसी दूसरे के बताये कुछ कर सके। अत्यधिक अज्ञान, बेबसी, श्रम और मूर्खता की स्थिति को पूँजीवाद की अन्धी शक्तियों ने पैदा किया है। लोग बेचारे इसी में ग़ोते खा रहे हैं।

क़ानून बाधा न डाले उस सीमा तक सब काम का भार एक वर्ग पर डाल कर और सारा अवकाश दूसरे वर्ग को देकर पूँजीवादी प्रणाली ग़रीबों की भांति अमीरों को भी पंगु बना देती है। अपनी ज़मीन और पूंजी को किराये पर उठा कर वे बिना हाथ-पांव हिलाये प्रचुर भोजन

और सुख-सामग्री प्राप्त कर सकते हैं। उनके कारिन्दे ज़मीन का किराया वसूल करते हैं और उनके नामों पर बैंकों में जमा करा देते हैं। इसी तरह कम्पनियां भी उनकी पूंजी का अर्द्धवार्षिक किराया उनके नामों पर बैंकों में डाल देती हैं। उनको तो सिर्फ चैकों पर दस्तख़त भर करने होते हैं जिनके द्वारा वे हरएक वस्तु की क़ीमत चुकाते हैं। वे अपने निठल्लेपन के पक्ष में यह दलील दे सकते हैं कि उनके पूर्वजों ने तो उत्पादक श्रम किया था, मानो औरों के पूर्वजों ने तो उत्पादक श्रम किया ही नहीं था! सम्भव है उनके पूर्वजों ने खेतों में हल चलाया हो और अधिक धनी बनने के लिए अपनी पूंजी को ज़मीन में लगाने के नये तरीक़ों का आविष्कार किया हो; किन्तु अब जब उनके वंशजों को पता चला कि उनके लिए यह सब कष्ट तो दूसरे लोग ही कर देंगे तो उन्होंने ज़मीन और पूंजी को किराये पर उठाना शुरू कर दिया और बैठे-बैठे खाने लगे।

जो लोग इतना अधिक श्रम करते हैं और जिनको कम मनोरंजन मिलता है उनकी दृष्टि में धनिकों का निठल्लापन अत्यन्त सुखकर प्रतीत हो सकता है। वे इससे बढ़कर कल्पना नहीं कर सकते कि जीवन एक लम्बी छुट्टी हो, किन्तु इस स्थिति में यह ख़राबी है कि जब धनिकों को अपनी आजीविका स्वयं कमानी पड़ती है तो वह उनको बच्चों की तरह निस्सहाय बना देती है; क्योंकि उन्हें कुछ पता नहीं होता कि ज़मीन कैसे जोती जाती है, या कोई काम कैसे किया जाता है। यदि भूखे लोग न हों तो उन्हें कहना पड़ेगा कि 'हम खोद नहीं सकते और भीख मांगने में हमें शर्म मालूम होती है।'

ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों असहायावस्था बढ़ती जाती है। गांवों में हमें ऐसे आदमी मिल सकते हैं जो चीज़ें बना सकते हैं और जिन चीज़ों को बना सकते हैं उनके लिए सामग्री ख़रीद सकते हैं और उनको बेच भी सकते हैं। किन्तु शहरों में ऐसे लाखों धनी और मजदूर मिलेंगे जो कोई चीज बनाना नहीं जानते। केवल कुछ लोग होते हैं जिनको मध्यम वर्ग के लोग कहते हैं। वे ही यान्त्रिक, साहित्यिक और कलात्मक धन्धों के अतिरिक्त पूँजीपति देशों का प्रबन्ध, संचालन और

निर्णय करने का समस्त काम करते हैं।

आज से सौ साल पहिले पूँजीपति, ज़मींदार या श्रमिक प्रधान व्यक्ति न थे। प्रधान व्यक्ति थे मध्यमवर्गीय कार्यदाता थे जो अधिकांश में सम्पत्तिवान वर्ग में पैदा हुए थे, जिन्होंने सम्पत्तिवानों के समान ही शिक्षा, रुचि, स्वभाव, रहन-सहन, और बोलचाल समाज में पाई थी, किन्तु अब उस वर्ग में जगह न होने से शासन, तथा व्यवसाय सम्बन्धी कार्यों को करते थे या स्वतंत्र व्यवसाय चलाते थे। वे पूंजी, ज़मीन और श्रम का उपयोग करते थे। और उससे भूखों को कार्य देते थे। इन कार्यदाताओं ने पहिले मध्यमवर्गीय कर्मचारियों के रूप में शुरूआत की थी। पीछे उन्होंने कार्य का अनुभव होने पर कुछ सौ गिन्नियां इकट्ठी करके किन्हीं दूसरे कुशल कर्मचारियों को हिस्सेदार बनाकर कोई उद्योग खड़े किए और कार्यदाता बन गए।

किन्तु ज्यों-ज्यों पूंजी अधिकाधिक परिमाण में एकत्रित होने लगी और तदनुसार व्यवसायों का विस्तार बढ़ने लगा, त्यों-त्यों उद्योग अधिकाधिक बड़े पैमाने पर होने लगे। यहां तक कि पुराने ढंग की छोटी-छोटी दूकानों को मालूम होने लगा कि उनके ग्राहकों को बड़ी सम्मिलित पूंजी से चलनेवाली कम्पनियाँ छीने लिए जा रही हैं जो अपनी बड़ी पूंजी और क़ीमती मशीनों की सहायता से न केवल सस्ते भाव में चीज़ें बेच ही सकती थीं, बल्कि कम मूल्य लेने के कारण अधिक मुनाफ़ा भी कमा सकती थीं। वे विविध प्रकार की चीज़ें एक ही स्थान पर बेचने लगी थीं और इस प्रकार ग्राहकों के लिए उन दूकानों की बनिस्बत जिनमें सब प्रकार की चीज़ें इकट्ठी नहीं रक्खी जातीं, अधिक सुविधाजनक सिद्ध हो रही थीं।

किन्तु परिवर्तन इस रूप में भी हुआ कि देखने में वह मालूम न पड़ सकता था। तेल या तम्बाकू की सौ पृथक-पृथक दूकानों पर एक ही कम्पनी का, जिसे ट्रस्ट कहते हैं, स्वामित्व होता था। जिस प्रकार सैकड़ों की पूँजी से चलने वाली दुकानें हज़ारों की पूंजीवाली कम्पनियों से

छिड़ गई, इसी प्रकार हज़ारों रुपयेवाली कम्पनियों को लाखों रुपये से चलने वाले ट्रस्टों के सामने हार खानी पड़ी। बड़ी कम्पनियों को एक ट्रस्ट के रूप में संगठित हो कर अपनी रक्षा करने के लिए विवश होना पड़ा।

इससे मध्यमवर्गीय कार्यदाताओं पर यह असर पड़ा कि उन्हें पहिले की तरह थोड़ी पूँजी मिलनी बन्द हो गई। पहिले बैंकर लोग जिनके पास अतिरिक्त रुपया होता है कार्यदाताओं को अपनी मर्ज़ी से रुपया देते थे जिसे उद्योगों में लगा कर वे उनकी पूँजी का ब्याज, ज़मींदार की ज़मीन का किराया, मज़दूरों की मज़दूरी और बहुत सारा मुनाफ़ा कमा लेते थे। कभी-कभी उनका यह मुनाफ़ा इतना भारी होता था कि वे उसके द्वारा धनवानों की श्रेणी में पहुँच जाते थे। किन्तु अब कम्पनियों की प्रतिस्पर्धा ने उन्हें भी कम्पनियों के रूप में संगठित होने और कार्यदाता से कर्मचारी बन जाने के लिये विवश कर दिया। ऐसी स्थिति में वे उचित वेतन और कम्पनियों में अपने हिस्सों के मुनाफे के अतिरिक्त कुछ नहीं पाते। दूसरी ओर कम्पनी के हिस्सेदार जिनमें थोड़ी-थोड़ी पूँजीवाले बहुत से लोग होते हैं, अपनी पूँजी के सूद के अतिरिक्त मुनाफे का हिस्सा भी पाते हैं।

इस प्रकार मध्यम वर्ग सम्पत्तिवान वर्ग से निकल कर सम्पत्तिहीन शिक्षित समुदाय बना। उसने सम्पत्तिवानों के बौद्धिक व्यवसायों और व्यापार द्वारा अपना निर्वाह किया। फिर वह धनी कार्यदाता बना और बेहद मुनाफ़ा खाता रहा और अन्त में वह फिर इतना गिर गया। उसका पहिले का सारा मुनाफ़ा अब धन संयोजकों (जिनके नामों के प्रभाव से धन मिलता है) और हिस्सेदारों की जेबों में जाने लग गया।

पूँजीवाद में पूँजी का यह तो मध्यमवर्ग पर असर हुआ। अब रहा श्रमिक वर्ग। इसे हम भूखा वर्ग, जनता, या असंस्कृत जन-समुदाय कुछ भी कहें। इन लोगों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपने आप को किराये पर उठाना पड़ता है या कहना चाहिए कि वे अपना श्रम बेचकर अपना निर्वाह करते हैं। अपने श्रम के लिये यदि उनको अधिक मज़दूरी मिले तो उनकी हालत अच्छी होगी और यदि कम मिले तो खराब

होगी। कुछ न मिले तो वे भूखे मरेंगे; किन्तु इंग्लैण्ड जैसे देशों में उन्हें बेकारवृत्ति मिल जायगी।

जहाँ श्रमिकों को अपना श्रम वेचते समय यह ख़याल रहता है कि वे कम-से-कम इतना श्रम करें कि उनके श्रम ख़रीदनेवाले मालिकों को आपत्ति न हो और उसके बदले में उनसे अधिक-से-अधिक पैसा लें, वहाँ उनके कार्यदाता मालिकों को सदा यह ख़याल रहता है कि कम-से-कम पैसा देकर अधिक-से-अधिक श्रम प्राप्त किया जाय। चरम सीमा की सामाजिक बुराइयों का जन्म इसी से होता है। श्रम ख़रीदने वाले मालिक वही श्रम ख़रीदते हैं जो सस्ता होता है। उन्हें यह सोचने की ज़रूरत नहीं कि उसे बच्चे करते हैं या स्त्रियाँ या पुरुष और उससे उनके स्वास्थ्य और सदाचार पर क्या असर होता है। वे इन बातों की तभी चिन्ता करते हैं जब इनसे उनके मुनाफ़ों में कमी आती हो।

लन्दन की ट्रामों के प्रबन्धकों को जब ट्रामों में घोड़े जोते जाते थे तब यह तय करना था कि वे अपनी ट्रामों को खींचनेवाले घोड़ों के साथ किस तरह का बर्ताव करें कि उनसे अधिक-से-अधिक रुपया कमाया जा सके। उन्होंने हिसाब लगाया कि घोड़ों को अच्छा खिला-पिला कर और उनसे कम काम लेकर १८, २० साल या ड्यूक आव वेलिंगटन के घोड़े की भांति ४० साल तक ज़िंदा रखने के बजाय उन्हें ४ साल में बेकार कर देना अधिक लाभप्रद होगा। अमेरिका के गोरे खेतिहरों ने अपने हब्शी गुलामों को ७ साल में बेकार कर देने में अधिक-से-अधिक लाभ समझा था और इसलिए उन्होंने अपने प्रबन्धकों को हब्शी गुलामों के साथ तदनुसार व्यवहार करने की आज्ञा दी थी। उनको मार डालने में उन्हें नये घोड़ों और गुलामों की भारी क़ीमत देनी होती थी; किन्तु बच्चों, स्त्रियों और पुरुषों को उनके कार्यदाता मामूली मज़दूरियों पर कड़े-से-कड़े कामों में लगा सकते हैं और जल्दी मार सकते हैं। इनके अतिरिक्त यदि उनके पास काम न हो तो उन्हें घोड़ों और गुलामों की तरह उनको खिलाने की भी आवश्यकता नहीं। वे उन्हें हफ्तों के हिसाब से काम पर लगा सकते हैं और जब काम न हो तो चाहे वे भूखों मरें चाहे

कुछ और करें उन्हें छुट्टी दे सकते हैं। पूंजीवाद के मध्याह्न में, जब यह प्रणाली ज़ोरों पर थी, छोटे-छोटे बालक चाबुकों के ज़ोर से काम लेकर मार डाले जाते थे। लोग कहने लग गए थे कि ये कार्यख़ाना एक पीढ़ी के स्थान में नौ पीढ़ियों का ख़ात्मा कर रहे हैं। खानों में स्त्रियों से पतनकारी परिस्थितियों के बीच काम कराया जाता था।

इसके बाद कुछ फ़ैक्टरी-क़ानून बनाये गये जिनमें खानों और दूसरे उद्योगों का नियमन भी शामिल था। मालिकों ने पहिले तो उनके खिलाफ़ शोर मचाया कि ये क़ानून कारख़ानों को तबाह कर देंगे; किन्तु पीछे उन्होंने अधिक अच्छी व्यवस्था करके अधिक संख्या में और अच्छे यन्त्रों का उपयोग करके तथा काम जल्दी कराके पहिले से अधिक मुनाफ़ा कमाया। शुरू-शुरू में तो मज़दूरों ने भी इन क़ानूनों का विरोध किया था। कारण, उनमें व्यावसायिक कामों के सर्वथा अयोग्य छोटे-छोटे बालकों से अतिश्रम कराना निषिद्ध हो जाता था, जिनकी आय श्रमिक की मज़दूरी के साथ मिल कर कुटुम्ब का गुज़र चलाने में मदद देती थी। श्रमिकों ने यह अल्प मज़दूरी स्वयं स्वीकार न की थी। पूँजीवाद के प्रभाव में मज़दूरों की बढ़ी हुई संख्या ने उन्हें अल्प मज़दूरी स्वीकार करने के लिये बाध्य किया था। पहिले उन्होंने बच्चों की छोटी आय को मिला कर इनकी कमी पूरी की, किन्तु पीछे उनके बच्चों की छोटी आयों को उनकी मज़दूरियों को कम करने में व्यवहार किया गया।

स्त्रियों पर पूंजीवादी पद्धति का पुरुषों की अपेक्षा और भी ख़राब असर पड़ा है। यदि कारख़ानेदारों को उतनी ही मज़दूरियों पर पुरुष मिलते तो वे स्त्रियों को न रखते। इसी कारण उनको पुरुषों की अपेक्षा कम मज़दूरी स्वीकार करनी पड़ी। दूसरे अविवाहित स्त्रियाँ पुरुषों से कम भी ले सकती थीं, क्योंकि उनके ऊपर पुरुषों की तरह किन्हीं के पालन-पोषण का भार न होता था। इस प्रकार सामान्य नियम यह बन गया कि स्त्रियों को पुरुषों से कम दिया जाय। यदि कभी किन्हीं स्त्रियों ने समान काम के लिए समान मज़दूरी की माँग की तो उन्हें जवाब दिया गया कि 'यदि तुम कम मज़दूरी न लोगी तो बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी

हैं जो तुम्हारी जगह कम मज़दूरी पर काम करने को तैयार हो जायँगी।' या यह कि 'यदि मुझे तुमको पुरुषों के समान मज़दूरी देनी पड़े तो मैं अपने काम के लिए पुरुष ही रख लूँगा।'

ऐसी बड़ी लड़कियां भी बहुत सी थीं जो रहती तो थीं अपने पिताओं के साथ और पांच शिलिंग प्रति सप्ताह पर काम करने चली जाती थीं कारख़ानों में। इस प्रकार जिस मजदूर की एक बड़ी लड़की हुई उसकी आय में ५ शिलिंग, जिसकी दो हुई उसकी में १० शिलिंग, और जिसकी तीन हुई उसकी में १५ शिलिंग आसानी से जुड जाते। इनसे वह उन्हें पहिले की अपेक्षा अच्छी तरह से रख सकता था। किन्तु इन शिलिंगों से उन लड़कियों का निर्वाह न हो सकता था। वे अपने ख़र्च का ⅓ अपने पिताओं पर डालती थीं। इसका यह अर्थ हुआ कि वे अपने पिताओं की आमदनी में से ⅓ लेकर उसका फल कारख़ाने के मालिक को देती थीं। ऐसी स्थिति में अधिक बच्चोंवाली विधवा जब अधिक मजदूरी मांगती तो उसे कहा जाता कि 'यदि तुम इतने में काम न करोगी तो तुम्हारे बजाय कितनी ही लडकियां इतने में काम करने को राज़ी हो जायंगी।'

इसके अलावा मजदूरों की स्त्रियों थोड़ी मजदूरी में घरों में थोड़े समय काम करने को राज़ी होजाती थीं और ख़ुशी-ख़ुशी आधा दिन उस काम में ख़र्च कर देती थीं। इससे उनकी कौटुम्बिक आमदनी की कमी भर पूरी हो जाती थी; किन्तु इससे भी दूसरी ज़रूरतमन्द स्त्रियों की मज़दूरियों में कमी होने में मदद मिली।

इन मजदूर स्त्रियों और लडकियों के जेब ख़र्च के लिए काम करने को तैयार हो जाने से स्वतंत्र रूप से पृथक रहने वाली स्त्री या विधवा की गिरी हुई मजदूरी में निर्वाह करना कठिन हो गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्त्रियों को अपने निर्वाह के लिए, जो मिले उसी से विवाह करने को बाध्य होना पडता है। यह ख़राब स्थिति है, किन्तु यह स्थिति इससे भी ख़राब है कि बिना विवाह किये भी कोई स्त्री अपने स्वाभिमान को छोडकर किसी पुरुष की मजदूरी पर निर्वाह करती है। यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को कहे कि मैं तुम्हें अपनी वैध पत्नी के रूप

मैं तो स्वीकार नहीं कर सकता; किन्तु यदि तुम इतनी धन-राशि या अमुक चीज़ के एवज़ में मुझसे अनुचित सम्बन्ध कर लो तो उसे सदा 'ना' नहीं सुननी पड़ेगी। यदि सदाचार का दंड क्षुधा और दुराचार का उपहार क्षुधा की निवृत्ति हो तो यह पतन के गड्ढे में उसे खींच ले जाने के लिए काफ़ी सबल प्रलोभन है।

पूंजीवादी पद्धति में अनुचित सम्बन्ध प्रोत्साहन पाते हैं। यदि इंग्लैण्ड में किसी अविवाहित स्त्री के बच्चा पैदा हो तो उसके पिता को बच्चे की परवरिश के लिए १६ साल की उम्र तक ७॥ शिलिंग प्रति सप्ताह क़ानूनन देने चाहियें। इस बीच बच्चा मां के अधिकार में ही रहता है (यदि वे दोनों विवाहित होते तो बच्चा पिता के अधिकार में होता)। माता को पिता की घर-गृहस्थी चलाने की भी कोई चिन्ता नहीं रहती। इसका परिणाम यह होता है कि यदि वह स्त्री दूरदर्शी, सावधान और कामुक हो तो वह ५-५ अवैध बच्चे पैदा करके ३७॥ शिलिंग प्रति सप्ताह अपनी साप्ताहिक मजदूरी के अतिरिक्त निश्चितरूप से पा सकती है और ५ वैध बच्चों वाली विधवा की अपेक्षा जो अपने श्रम से गुज़र करती है सुखी रह सकती है।

कुछ व्यवसायों में स्त्रियों के लिए वेश्यावृत्ति अनिवार्य है, क्योंकि उनमें मज़दूरी कम दी जाती है। जब वे यह कहती हैं कि इतने में तो हमारा गुज़र न होगा तो उन्हें कहा जाता है कि जब दूसरी स्त्रियों का गुज़र हो जाता है तो तुम्हारा क्यों न होगा? ऐसी स्थिति में वे या तो वेश्यावृत्ति स्वीकार करें या भूखी मरें। पूँजीवाद उनकी चिन्ता नहीं करता। यह पूंजीवाद का स्त्रियों पर अन्याचार है।

पूँजीवादी पुरुषों को यह नहीं कह सकते कि यदि तुम्हारी मज़दूरी में तुम्हारा गुज़र नहीं होता तो अपने शरीरों को बाज़ारों में बेचो। जब पुरुष इस माल का व्यापार करते हैं तो वे विक्रेता की नहीं ख़रीददार की हैसियत में होते हैं। वे तो स्त्रियाँ हैं जो पूँजीवादी प्रणाली की चरम सीमाओं के कष्ट सहन करती हैं। उन्हें अपने शरीरों को बेचना होता है। लोग पश्चिमी देशों में दुकानों पर, नाटकघरों में, होटलों मे, विश्रान्तिगृहों

में सुन्दर स्त्रियों को रख कर उनकी वेश्यावृत्ति से अनुचित लाभ उठाते हैं। वे प्रायः इतना कम वेतन देते हैं जितने में उनकी सजावट होनी भी मुश्किल होती है। वे जब उनसे इसकी शिकायत करती हैं तो उन्हें कहा जाता है कि 'यदि तुम इतने में राज़ी नहीं हो तो तुम्हारी कितनी ही दूसरी बहनें इतने में राजी हो जायेंगी। यह क्या कम है कि हम तुम्हें ३० शिलिंग साप्ताहिक देते हैं और तुम्हारे सौन्दर्य का रंगमंच पर या सजे हुए होटलों में सुन्दरता के साथ प्रदर्शन कर देते हैं?'

: ५ :

पूँजी और श्रम का संघर्ष

संघर्ष का विकास

हमने यह देखा कि इंग्लैण्ड में पहिले अकेले व्यक्ति से जब कहा जाता कि यदि वह नियत मज़दूरी पर काम नहीं कर सकता है तो उसके बजाय उसके दूसरे कितने ही भाई उसे करने वाले आजायेंगे, तो वह अपने मालिकों के खिलाफ कुछ न कर सकता था। वह तब योग्य मज़दूरी और योग्य काम नहीं पा सकता था। योग्य मज़दूरी और योग्य काम पाने के लिए उसे अन्य मज़दूरों के साथ मिल कर किसी-न-किसी प्रकार का संगठन बना कर प्रभावकारक ढंग से मालिकों का प्रतिरोध करने की आवश्यकता थी। कई व्यवसायों में यह बात असम्भव थी। कारण, उनमें काम करने वाले मज़दूर एक-दूसरे को जानते न थे और एक स्थान पर इकट्ठे होकर सामूहिक कार्रवाही करने के लिए सहमत होने के उनके पास साधन नहीं थे। उदाहरण के लिए घरेलू, नौकर अपना संघ नहीं स्थापित कर सकते थे। वे देश भर में काम करते थे और व्यक्तिगत रसोई-घरों में प्रायः कैद से रहते थे। वे अकेले या दो-दो तीन-तीन के समूहों में काम करते थे। अत्यधिक धनिकों के घरों में उनकी संख्या तीस या चालीस तक भी पहुँच जाती थी। इसी प्रकार खेतों में काम करने वाले मज़दूर

एक-दूसरे से बहुत दूर-दूर काम करने के कारण कठिनता से संगठित किये जा सकते थे और उनके संगठन को अधिक समय तक बनाये रखना तो और भी कठिन था। कारखानों, खानों और रेलों के मजदूरों के अलावा प्रायः अन्य सभी प्रकार के धन्धों में काम करने वाले मजदूरों के संगठन के सम्बन्ध में कम या अधिक यही बात कही जा सकती है।

कुछ व्यवसायों में वेतन और सामाजिक स्थिति की भिन्नता के कारण उनमें काम करने वाले मजदूरों का संगठन कठिन होता है। रंग-मंच पर हैमलेट का अभिनय करने वाला अभिनेता कोई पदवीधारी अत्यन्त सम्पन्न पुरुष हो सकता है और पोर्शिया का अभिनय करने वाली अभिनेत्री कोई अत्यन्त उच्च घराने की पदवीधारी महिला हो सकती है। उन्हें सैकड़ों गिन्नियाँ प्रति सप्ताह वेतन के रूप में मिल सकती हैं। उनके साथ ऐसे लोग भी अभिनय करते हैं जो यदि एक भी शब्द मुँह से निकाल दें तो वे अपनी बोली से तुरन्त पहिचान लिए जायं कि वे दरबारी पोशाक पहिने हुए होने पर भी दरबारी लोग नहीं हैं। उनको पर्दा गिराने वाले मामूली नौकरों के बराबर भी वेतन नहीं दिया जाता। यह भी हो सकता है कि किसी बुनकर या किसान को हैमलेट का अभिनय करने वाले अभिनेता की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता हो; किन्तु बुनकर या किसान का दैनिक व्यवहार हैमलेट के अभिनेता की अपेक्षा इतना असंस्कृत होता है कि हैमलेट का अभिनेता बुनकर या किसान के साथ शायद बातचीत और भोजन करना भी पसन्द न करेगा इस कारण अभिनेताओं का संघ बनाना कठिन है। संघ उन्हीं व्यवसायों में संगठित किये जा सकते हैं जिनमें लोग बड़े-बड़े समूहों में साथ-साथ काम करते हों, एक ही पड़ोस में रहते हों, एक ही सामाजिक श्रेणी के हों और समान वेतन पाते हों। इंग्लैण्ड में कोयले की खानों के खनिकों ने, लंकाशायर के कपड़े के कारखानों के बुनकरों ने, मिडलैण्ड के लोहे के कारखानों में लोहा पिघलाने और ढालने वालों ने सर्व प्रथम स्थायी और दृढ़ संघ संगठित किये। राज, मज़दूर आदि इमारती काम करने वाले मज़दूर भी मालिकों की ओर से किये जाने वाले असह्य अन्याय से क्षुब्ध

हो कर संगठित होते और अपन शिकायतें मालिकों के सामने रखते। इसके बाद अपना काम निकल जाने पर, या हार जाने पर तबतक के लिये बिखर जाते जबतक कि उन्हें कोई ऐसा ही अवसर आ जाने पर पुनः संगठित होने की ज़रूरत न होती। किन्तु जब वे बेकारी से संरक्षण पाने के लिये बीमा-कोष बनाने लगे तो उन्हें अपने संगठन को स्थायी रूप देना पड़ा। इस प्रकार ये संघ क्षणिक उपद्रवों से आजकल के जैसे दृढ़ व्यवसाय-संघों में परिणत हो गये।

अब श्रमजीवी-संघों की उपयोगिता पर विचार किया जाता है। यदि व्यवसाय-संघों का पर्याप्त संगठन हो जाय तो वे श्रमिकों को मालिकों के आगे खड़ा होने के योग्य बना देते हैं। उनके मालिक उन्हें व्यवसायों से निकल जाने की धमकी नहीं दे सकते। यदि किसी शहर के सभी ईंट जमाने वाले अपना संघ बनालें और प्रति सप्ताह थोड़ा-थोड़ा चन्दा उसमें देकर ज़रूरत के वक्त के लिये एक कोष जमा करलें तो मालिकों द्वारा मज़दूरियाँ घटाई जाने पर वे काम छोड़ कर उस कोष पर अपना निर्वाह कर सकते हैं और कोष के परिमाणानुसार मालिकों के काम को हफ्तों या महीनों बिल्कुल बन्द कर सकते हैं। इसको हड़ताल कहते हैं। मज़दूरियाँ घटाने पर आपत्ति-स्वरूप ही नहीं, मज़दूरियां बढ़वाने, काम के घन्टे कम करवाने या और किसी बात के लिये भी, जिसके सम्बन्ध में मज़दूरों और मालिकों में शान्तिपूर्वक समझौता न हो सके, हड़तालें की जा सकती हैं। हड़तालों की सफलता या असफलता मालिकों के व्यवसायों की स्थिति पर निर्भर होती है। यदि मालिक चाहें तो कोष की समाप्ति पर हड़तालियों के झुकने तक हड़ताल को बर्दाश्त कर सकते हैं, किन्तु यदि व्यापार उन्नति कर रहा हो और उन्हें लाभ अधिक हो रहा हो तो वे मज़दूरों की मांगे जल्दी स्वीकार कर लेंगे।

ऐसे अवसर भी आते हैं जब व्यापार सुस्त हो जाता है और मालिक यह अनुभव करते हैं कि यदि उनके व्यवसाय कुछ समय तक बन्द भी रहें तो अधिक हानि नहीं होगी। ऐसे समय वे मजदूरों की मजदूरियां घटा देते हैं और उन घटी हुई मजदूरियों को स्वीकार न करने वाले सभी

मजदूरों के लिए अपने कारखानों के दरवाजे बन्द कर देते हैं। यद्यपि गलती से लोग इनको भी हड़तालें ही कहते हैं; किंतु इन्हें तालाबन्दी कहना ठीक होगा। व्यावसायिक तेजी से हड़तालें और व्यावसायिक मन्दी से तालेबन्दियां होती हैं और प्रायः दोनों ही सफल हो जाती हैं। यूरोपीय महायुद्ध के बाद यूरोप के कारखानों में भयंकर तेजी और मन्दी के कारण खूब हड़तालें और तालेबन्दियां हुईं जिन से सभी लोगों को यह मालूम हो गया कि हड़तालें और तालेबन्दियां किसी भी देश के लिए हितकर नहीं हैं। एक व्यवस्थित समाज में उनका कोई उपयोग नहीं हो सकता।

हड़तालों को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक था कि व्यवसायों में काम करने वाले सभी आदमी व्यावसायिक संघों में शामिल हों। कारण, व्यवसायों के मालिक हड़ताल तोड़ने के लिए बाहरी मजदूरों से हड़ताल करने वालों का काम करा सकते थे। जो मजदूर व्यवसाय-संघों के सदस्य न बनकर ऐसे अवसरों पर व्यवसायों में काम करने को राजी हो जाते वे स्वार्थी मजदूर-द्रोही आदि नामों से सम्बोधित किए जाते और घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। कारखानों के दरवाजों पर मजदूरों के जत्थे मजदूर-द्रोहियों को भीतर जाने से रोकने के लिए नियुक्त किए जाते थे। यदि उनकी रक्षा के लिए वहां काफी पुलिस का प्रबन्ध न किया जाता तो वे अपनी रक्षा न कर सकते थे। इंगलैण्ड के मैन्चेस्टर आदि शहरों के कारखानों में तो अन्त में मजदूर-द्रोहियों का अन्त करने के लिए बम तक रक्खे जाते थे, जो काम करते समय फट जाते थे और मजदूर-द्रोहियों के टुकड़े-टुकड़े उड़ा देते थे। यंत्रों और काम के साधनों को काम करने वालों के लिए खतरनाक बना दिया जाता था और कारखानों की चिमनियों को विस्फोटक पदार्थों के लेपन से चूर-चूर कर दिया जाता था। इन कृत्यों को बन्द करने के लिए सरकार ने अपराधियों को दंड देने के अतिरिक्त व्यवसायों के मालिकों को इस बात के लिए विवश किया कि मजदूरों को उत्तेजना न दें। उसने उन्हें लकड़ी चीरने के कारखानों में

धूल-शोपक यंत्र लगाने के लिए बाध्य किया। लोहे के कारखानों में भी वैसे ही यंत्र लगाए गए। इन यंत्रों के कारखानों में लगाने से पूर्व उनमें काम करने वाले मजदूरों को धूलभरी घातक हवा में साँस लेनी होती थी जिसके परिणाम-स्वरूप फेफड़े ख़राब हो जाने से वे घोर कष्ट सहन करते थे।

मजदूर केवल मजदूर-संघों द्वारा निश्चित मजदूरी से कम मजदूरी लेकर ही अपने साथी मजदूरों का अहित न कर सकते थे, वे मजदूर-संघों द्वारा निश्चित कार्य से अधिक कार्य करके भी उन्हें नुकसान पहुँचा सकते थे। इस कारण से संघों ने मजदूरों को यह हिदायत की थी कि कोई भी मजदूर यदि काम पर रक्खा जाय तो वह निश्चित काम से थोड़ा भी अधिक काम न करे। इसके विरुद्ध मालिक यह करते थे कि वे हरएक आदमी कितना काम करे यह तय करने के लिए किसी तेज-से-तेज और परिश्रमी आदमी को चुनते थे और वह जितना काम करता उतना हरएक मजदूर से कराने की कोशिश करते थे।

इस तरह पूंजीवाद मालिकों को मजदूरों से अधिक-से-अधिक काम लेने और मजदूरों को मालिकों के लिए कम-से-कम काम करने को विवश करता है, किन्तु मालिकों और मजदूरों के इस संघर्ष के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रों के उद्योग-धन्धे अभी तक नहीं मरे। इसका कारण यह है कि पूंजीवाद ने मानव-स्वभाव पर अभी इतनी विजय नहीं पाई है कि हरएक आदमी सर्वथा व्यावसायिक सिद्धान्तों का ही अनुसरण करने लगे। सभी राष्ट्रों के जन-साधारण मालिकों द्वारा जो कुछ मिल जाता है वह नम्रता और अज्ञता के साथ ले लेते हैं और यथाशक्ति काम करते हैं। हिंदुस्तान के किसानों की तरह कुछ इसे अपने भाग्य का दोष समझते हैं और ऋतुओं की तरह स्वाभाविक भी मानते हैं।

इंग्लैण्ड में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में मज़दूरी करने वाले लोगों की संख्या १ करोड़ ४० लाख थी, जिन में से केवल १५ लाख व्यवसाय-संघों में शामिल थे। इसका यह अर्थ हुआ कि इतने मज़दूरों में से केवल १५ लाख मज़दूर पूँजीवादी व्यावसायिक सिद्धान्तों के अनुसार

अपना श्रम बेचते थे। आज लगभग ४५ लाख मज़दूर पूंजीवाद के अनुयायी हो गए हैं और नियमानुसार संघर्ष-तत्पर संघों के सदस्य बन गए हैं। वर्ष में ६००-७०० व्यावसायिक संघर्ष होते हैं। इससे इंग्लैण्ड को कितने दिनों के काम की हानि होती है। यदि इसका हिसाब लगाया जाय तो दिनों की संख्या लाखों पर पहुँचेगी। पूंजीवाद का यह भयंकर दुष्परिणाम उस देश को भोगना पड रहा है। अन्य देशों में भी कम या अधिक ऐसी ही अवस्था है। किन्तु लोग अज्ञान से इसको समाजवाद समझते हैं। मज़दूर जब पूंजीपतियों को अपनी पूंजी से, व्यवसायियों को अपने व्यवसायों से और धन-संयोजकों को अपनी धन-संग्रह करने की कला से अनाप-शनाप धन कमाते देखते हैं तो उन्हें भी अपने श्रम से अधिक-से-अधिक रुपया कमाने के लिए संघों के रूप में संगठित होने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस संघर्ष का परिणाम यह होगा कि उद्योगों की गति कभी बन्द हो जायगी। अन्त में या तो सम्पत्ति श्रम को अपनी शक्ति से गहरी गुलामी में ढकेल देगी या श्रम विजयी होकर सम्पत्ति का स्वामी बन जायगा।

जब इंग्लैंण्ड में पहिले-पहल इस खुले संघर्ष की घोषणा की गई तो मालिकों ने श्रमजीवियों को अपराधी के तौर पर दण्डित करने के लिए अपनी पार्लमेण्टी सत्ता का उपयोग किया। संघों को षड्यंत्रों में गिना गया और उनमें शामिल होने वाले मजदूरों को षड्यंत्रकारियों में। फलतः संघ गुप्त संस्थाओं में परिणत हो गए और उनका नेतृत्व अधिक दृढ़-निश्चयी और क़ानून की कम पर्वाह करने वाले लोगों के हाथ में चला गया। अन्त में सरकार ने समझ लिया कि दमन से इनकी शक्ति और भी बढ़ती है। कारण, वह केवल थोड़े से लोगों को दण्ड दे पाती जो दण्डित हो कर और भी अधिक मज़दूरों की श्रद्धा के पात्र हो जाते। सार्वजनिक आन्दोलन होने से भी संघवाद को अधिकाधिक उत्तेजन मिलता था।

इसके बाद मालिकों ने अपने हथकंडे आज़माए। उन्होंने संघों के सदस्यों को अपने कारख़ानों में नौकर रखना अस्वीकार कर दिया; किन्तु

यह व्यर्थ सिद्ध हुआ। कारण, संघ-संगठन से बाहर के मज़दूर काफी संख्या में न मिलते थे। उन्हें संघों के सदस्यों को ही काम पर रखना पड़ा; किन्तु संघों के सदस्यों ने दूसरे मज़दूरों के साथ काम करने से इन्कार कर दिया। मालिकों ने, मज़दूरों के एक प्रतिनिधि के साथ बातचीत न करके उनमें से एक-एक के साथ बातचीत करने की कोशिश भी की; किन्तु वे इतने मज़दूरों से पृथक-पृथक बातचीत करने में असमर्थ थे। अन्त में उन्होंने संघों के मंत्रियों के साथ काम की शर्तें तय करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार संघों को मालिकों की स्वीकृति मिली। पीछे उन्हें क़ानूनी संरक्षण भी मिला जो इतना अधिक था जितना दूसरी मामूली संस्थाओं को प्राप्त न था। संघों की शक्ति धीरे-धीरे इतनी बढ़ी कि उनके साथ व्यवहार करने के लिए मालिकों को भी अपने संघ स्थापित करने को मजबूर होना पड़ा।

यद्यपि कुछ लड़ाइयाँ मज़दूरों को सताने के कारण होती हैं, किन्तु प्रायः झगड़े, जिनमें हार या जीत अधिक महत्व रखती है, मज़दूरियों और काम के घन्टों के कारण होते हैं। इसको समझने के लिए हमें यह

संघर्ष का कारण

जान लेना आवश्यक है कि मज़दूरियां दो प्रकार से दी जाती हैं, एक तो समय के हिसाब से और दूसरी काम के हिसाब से। जो मज़दूरियाँ समय के हिसाब से दी जाती है उन में मज़दूरियों की मासिक, साप्ताहिक या दैनिक दर निश्चित की जाती है। काम चाहे कितना ही कम या अधिक क्यों न हो। और जो मज़दूरियाँ काम के हिसाब से दी जाती हैं उनमें काम का परिमाण नियत होता है और उसके लिए नियत मज़दूरी मिलती है। यंत्रों के आविष्कार से पहिले मालिक काम के मुताबिक मज़दूरियां देना और मज़दूर समय के हिसाब से मज़दूरियाँ लेना पसन्द करते थे। किन्तु यंत्रों के आविष्कार के बाद स्थिति बदल गई, मालिक जब काम के मुताबिक मज़दूरियाँ देते तो वे इस बात का ख़याल रखते थे कि मज़दूर नियत काम को काफ़ी समय में पूरी मेहनत करने पर ही पूरा कर सकें। इस प्रकार वे वास्तव में समय के हिसाब से दी हुई मज़दूरियाँ ही होती थीं। किन्तु

जब मशीनों का उद्योगों में प्रवेश हुआ तो उतने ही समय में काम पहिले की अपेक्षा अधिक होने लगा। उदाहरण के लिए, यदि किसी नई मशीन पर काम करने वाले मज़दूर पहिले से दूना काम कर सकते थे तो वे पहिले जितना वेतन आधा मास या आधा सप्ताह या आधा दिन काम करके ही कमा सकते थे और बाक़ी आधे समय में छुट्टी मना सकते थे, यद्यपि वे अपने जीवन-निर्वाह का माप-दण्ड पहिले जितना ही रख सकते थे। किन्तु मालिक इसे पसन्द न करते थे। वे उनकी आधी मज़दूरी काट कर उन्हें पूरे समय काम करने के लिए विवश करते थे। अर्थात् वे मशीन का लाभ पूरा-का-पूरा स्वयं ही उठाना चाहते थे।

संघर्ष का कारण यही था और अब भी यही कारण होता है। शुरू में तो मज़दूरों ने मालिकों को धमकी दी कि यदि वे उनके वेतनों में कमी करेंगे और नई मशीन का लाभ उनको न देंगे तो वे नई मशीन को चलायेंगे ही नहीं। उन्होंने नई मशीनों के कारण दंगे किए और नई मशीनों के परिणाम-स्वरूप हड़तालें और ताले-बन्दियां हुईं। मालिकों के भी संघ बने और उनके तथा व्यवसाय-संघों के मंत्रियों के बीच शान्ति-पूर्वक बातचीतें होने लगीं। बार-बार काम के हिसाब से मज़दूरियाँ निश्चित की जाने लगीं और परिणाम-स्वरूप नई मशीनों का लाभ मज़दूरों को भी मिलने लगा। किन्तु वह मशीनों के कारण होने वाली आश्चर्यजनक राष्ट्रीय उत्पत्ति को देखते हुए इतना कम है कि मालिकों के लाभ के मुक़ाबिले में वह नगण्य-सा है।

इंग्लैण्ड के व्यवसाय-संघ तेज़ी के समय हड़तालों से जो कुछ प्राप्त करते थे, मन्दी के समय तालेबन्दियों से वह छिन जाता था। अतः

श्रम की विजय

उनको जल्दी ही यह अनुभव हुआ कि वे जो रियायतें प्राप्त करते हैं उन्हें उनको क़ानून द्वारा स्थायी बना लेना चाहिए। उन्होंने देखा था कि पार्लमेण्ट ने छोटे बच्चों से कारखानों में काम लेना कानूनन बन्द कर दिया था (यद्यपि उन्होंने दरिद्रता के कारण स्वयं उसका विरोध ही किया था।) इससे उनको यह विश्वास हो गया था कि यदि पार्लमेण्ट चाहे तो

व्यावसायिक मज़दूरों की दशा उन्नत करने वाले सुधारों को इतना दृढ़ बना दे सकती हैं कि मालिक लोग उनकी उपेक्षा न कर सकें। वे काम के घंटे कम कराना चाहते थे, उन्होंने आठ घंटे का दिन मानने का आन्दोलन करना शुरू किया। शुरू में यह आदर्श असम्भव प्रतीत हुआ और आज भी उसके प्राप्त होने में बहुत देर दिखाई देती है; किन्तु स्त्रियों, बच्चों और तरुणों के लिये दस घंटे का दिन सम्भव और ठीक प्रतीत हुआ। प्रौढ़ पुरुषों के सम्बन्ध में यह कहा गया कि ऐसे हरएक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह चाहे जितने घंटे काम करे। उनके काम के घन्टे नियत करके उनकी स्वतन्त्रता पर आक्रमण नहीं किया जा सकता। किन्तु कारखानों में से जब स्त्रियाँ, छोटे बच्चे और तरुण घर चले जाते हैं तो कारख़ानों के एन्जिन बन्द हो जाते हैं और एन्जिनों के बन्द हो जाने पर प्रौढ़ पुरुषों को भी काम नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार स्त्रियों, बच्चों और तरुणों के काम के घन्टे क़ानून द्वारा कम होने पर पुरुषों के काम के घन्टे भी क़ानून द्वारा कम हो गये।

यद्यपि उस समय पार्लमेंएट में मज़दूरों के प्रतिनिधि नहीं थे, फिर भी पार्लमेंएट से इस प्रकार के लोकहितकारी क़ानून उन्होंने किस प्रकार बनवा लिये ? उस समय पार्लमेंएट में भूस्वामियों, पूंजीपतियों और कारख़ानेदारों की ही भरमार थी। उन्होंने ये क़ानून मज़दूरों की हित-भावना से प्रेरित होकर नहीं बन जाने दिये थे। उस समय इंग्लैंएड में भूस्वामी कारख़ानेदारों को तुच्छ व्यवसायी कह कर घृणा की दृष्टि से देखते थे और कारख़ानेदार उनके विशेषाधिकारों को नष्ट करने पर तुले हुए थे। उन्होंने इंग्लैएड के बादशाह और अमीर, उमरावों को फ्रांस की सन् १७८९ की जैसी क्रान्ति की धमकी देकर सन् १८३२ में राज-सुधार क़ानून बनवा लिया और पार्लमेंएट का नियंत्रण वंशानुगत भूस्वामियों के हाथों से छीन कर अपने हाथों में ले लिया। उन्होंने उनके ज़ुल्मों का खूब भंडाफोड़ किया। उन्होंने बताया कि भूस्वामियों ने किस प्रकार भेड़ों और हिरनों के लिये जगह कराने के लिये पूरी आबादियों को देश से निकाल दिया, किस क्रूरता के साथ उन्होंने शिकार के क़ानूनों पर

अमल किया जिनके अनुसार थोड़े से ख़रगोशों या पक्षियों की चोरी करने के अपराध में लोगों को निकृष्ट अपराधियों के साथ रहने के लिये भेज दिया जाता था, उनकी जागीरों में मज़दूरों की कैसी ख़राब हालत थी? उन्हें वे कितनी थोड़ी मज़दूरियाँ देते थे, उन्होंने किस प्रकार अपनी जागीरों में चर्च आव इंग्लैण्ड के सिवा अन्य मत के ईसाइयों को जो धर्माडम्बर-विरोधी थे, सताया और उन्हें धर्मस्थान नहीं बनाने दिया। इस प्रकार के लोक-आन्दोलन से उन्होंने भूस्वामियों के प्रति जनता में इतना रोष उत्पन्न कर दिया था कि वे सुधार-क़ानून का विरोध करने में असफल रहे।

किन्तु भूस्वामी अपनी इस पराजय को शिर झुका कर सह लेने के लिए तैयार न थे। उन्होंने लार्ड शेफ्टसबरी के फैक्टरी क़ानूनों के लिए शुरु किये गये आन्दोलन का समर्थन करके कारख़ानेदारों से इसका बदला लिया। उन्होंने बतलाया कि कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों की अमेरिका और वेस्ट इन्डीज़ के खेतों में काम करने वाले गुलामों से भी बदतर हालत है, ख़राब-से-ख़राब भूस्वामियों की ख़राब-से-ख़राब झोंपड़ियों में कारख़ाने वाले क़स्बों के मज़दूरों के संकीर्ण घरों की अपेक्षा ताज़ी हवा तो मिलती है। यदि कारख़ानेदार इस बात की पर्वाह नहीं करते कि उनके कारख़ानों में काम करने वाले सनातनी ईसाई हैं या सुधारक, तो वे इस बात की पर्वाह भी नहीं करते कि वे सुधारक हैं या नास्तिक। कारण, उनका शैतान के अलावा और कोई ईश्वर नहीं है। वे व्यवसायसंघ-वादियों को क़ैद करवा कर अपनी शक्तिभर उनका उत्पीड़न करते हैं और यह कि किसानों और भूस्वामियों के बीच जो व्यक्तिगत और बहुधा दयापूर्ण सम्बन्ध रहते हैं, भूस्वामियों के यहाँ गृह-कार्य करने वाली स्त्रियों को शिष्टाचार और सद्‌गृहस्थी की परम्पराओं का जो शिक्षण मिलता है, विशाल जागीरों में वृद्धों और बीमारों के प्रति जो कोमल व्यवहार होता है, वह सब खानों और कारखानों की बस्तियों में पाई जाने वाली गन्दगी और दीनता, निर्दयता और पाखण्ड, व्यभिचारोत्तेजक अत्यावास और गन्दगी से उत्पन्न होने वाले रोग

प्रकोपों के बीच ग़ायब हो जाता है।

यद्यपि यह सब बिल्कुल सही था; किन्तु यह तो वही बात हुई कि तपेली केटली को अपने से अधिक काली कहे। कारण, उसके बाद न तो कभी भूस्वामियों ने मुनाफे का वह अंश लेने से इन्कार किया जो कारखानेदार खानों और कारखानों में उनके लिए पैदा करते थे, न उन्होंने अपनी लंकाशायर की भूमि में कारखाने और मजदूरों के आवास बनने में बाधा ही डाली और न कारखानेदारों ने कारखानों से सम्पत्ति पैदा कर लेने के बाद देहातों में भूमि खरीद कर भू-स्वामी बनने में ही संकोच किया। कहने का तात्पर्य यह है कि भूस्वामियों और कारखानेदारों में अधिकार-प्राप्ति के लिए जो संघर्ष हुआ, उसके फलस्वरूप मजदूर हितकारी कानून बन पाये। यह सब उस समय हुआ जब पार्लमैण्ट में श्रमजीवियों को व्यापक मताधिकार प्राप्त न था।

इंग्लैण्ड की पार्लमैण्ट में भूस्वामियों ने अनुदार दल कायम किया और कारखानेदारों ने उदार दल। दोनों दल एक दूसरे के मुकाबिले में अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते थे। इसलिए तीसरे पक्ष अर्थात् मजदूर दल की बन आई। उदार दल वाले अपने-आप को सुधारवादी खयाल करते थे, क्योंकि उन्होंने ही बादशाह से शासन-सुधारों की योजना मंजूर करवाई थी। उन्होंने यह समझा कि मजदूरों का समर्थन उन्हीं को मिलेगा, इसलिए उन्होंने मजदूरों को मताधिकार दिये जाने का प्रस्ताव किया। पहले तो अनुदार दल ने इसका विरोध किया, किन्तु अपने नेता बैंजमिन डिसराइली के समझाने पर वह चुप हो गया। इस प्रकार मजदूरों को कुछ मताधिकार मिला और उसके द्वारा उन्होंने और भी अधिक मताधिकार पाने की कोशिश की। फल-स्वरूप सभी को मताधिकार प्राप्त हो गया और स्त्रियाँ भी उससे वंचित न रहीं। अवश्य ही स्त्रियों को इसके लिए उग्र आन्दोलन करना पड़ा। गत महायुद्ध के समय उन्होंने देश का काम इस खूबी के साथ किया कि उनका अधिकार बरबस स्वीकार कर लिया गया।

इसके बाद जो श्रमजीवी मतदाता शुरू में अनुदार और उदार दल

के उम्मीदवारों के बीच किसी एक का पलड़ा भारी कर दे सकते थे, वे अब स्वयं अपने ही उम्मीदवार चुनने लगे। किन्तु प्रारम्भ में उन्होंने डरते-डरते अपने सिर्फ दर्जन भर उम्मीदवार पार्लमेंट में भेजे जिन्होंने उदार दल के साथ मिल कर काम किया। इस अर्से में कार्ल मार्क्स और अमेरिका के हेनरी जार्ज के विचारों का प्रचार बढ़ रहा था और समाजवादी संस्थाओं का जन्म होने लगा था। इन संस्थाओं ने श्रमजीवियों में वर्गगत भावना पैदा की और उदार दल से उनका सम्बन्ध छुड़वा दिया। मतदाताओं को अब यह सिखाया गया कि मज़दूरों की दृष्टि से अनुदार और उदार दोनों ही दल गये-बीते हैं। कारण, दोनों के हित मज़दूरों के हितों से मेल नहीं खाते हैं। वास्तव में असली दल दो हैं। एक ओर पूँजीवादियों का दल है और दूसरी ओर श्रमजीवियों का। इन दोनों दलों में देश की ज़मीन और पूंजी पर अर्थात् उत्पत्ति के साधनों पर प्रभुत्व पाने के लिए वर्गगत आधार पर संघर्ष हो रहा है, जिसने कि आज संसार को हिला दिया है।

समाजवाद शुरू में मध्यमवर्ग का आन्दोलन था। पूंजीवाद के अन्यायों और अत्याचारों के विरुद्ध शिक्षित स्त्री-पुरुषों के दिलों में विद्रोह की भावना जगी और उन्होंने समाजवादी आन्दोलन को जन्म दिया। किन्तु वे श्रमजीवी जीवन से पूरी तरह परिचित न थे। इसलिए उनका आदर्शवाद अधिक कारगर साबित नहीं हुआ। अन्त में सन् १८८०-६० में समाजवादियों की फेबियन संस्था ने समाजवाद को पार्लमेंट के क़ानूनों द्वारा अमली रूप देने की कोशिश की। सिडनी वेब इस संस्था के नेता थे। उन्होंने श्रमजीवी संगठनों का इतिहास लिखा और यह बताया कि उनकी नींव पर ही समाजवाद की इमारत खड़ी की जा सकती है। फेबियन संस्था ने उदार और अनुदार दोनों दलों का विरोध किया और पार्लमेंट में स्वतंत्र मज़दूर दल की स्थापना की जो आगे चलकर मज़दूर दल में बदल गया। इस दल को व्यवसाय-संघों और समाजवादी संस्थाओं का सहयोग मिला और इसकी शक्ति धीरे-धीरे इतनी बढ़ी कि अन्त में सन् १६२३ में मि० मैकडोनल्ड के

नेतृत्व में मज़दूर सरकार क़ायम हो गई।

पहले की सरकारों की अपेक्षा यह सरकार अधिक योग्य साबित हुई। कारण, इसके सदस्यों ने अपनी योग्यता द्वारा ही उन्नति की थी और वे अपने विरोधियों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और अनुभवी थे। उदार और अनुदार दलों को यह आशा न थी कि मज़दूर सरकार सफल हो सकेगी। इसलिए जब परिणाम उनकी आशाओं के विपरीत आया तो वे बड़े खिन्न हुए और मज़दूर सरकार को गिराने के लिए आपस में मिल बैठे। उन्होंने मज़दूर सरकार के विरुद्ध यह झूठा आरोप लगाया कि उसका रूस की साम्यवादी सरकार से सम्बन्ध है और इस प्रकार जनमत के भड़काने की कोशिश की। इस समय पार्लमैण्ट का जो चुनाव हुआ, उसका यह नतीजा यह निकला कि मज़दूर-दल तो अपनी स्थिति बनाये रहा, किन्तु उदार दल कहीं का न रहा। किन्तु सरकार अनुदार दल वालों के हाथ में चली गई। इसके बाद एकबार और मज़दूर सरकार स्थापित हुई, किन्तु आर्थिक मन्दी और संसार-व्यापी युद्ध के बढ़ते हुए डर के कारण वह अधिक न टिक पाई। साथ ही मज़दूर दल में फूट भी फैल गई। मि० मेकडोनल्ड मज़दूर-दल से अलग हो गये और उन्होंने सम्मिलित अर्थात् सभी दलों की सरकार बनाने में सहयोग दिया। इस कारण यद्यपि मज़दूर-दल का बल कम हो गया है, किन्तु वह आज भी पार्लमैण्ट में विरोधी दल के रूप में मौजूद है और अपने अस्तित्व का समय-समय पर परिचय देता रहता है।

अब सवाल यह है कि राष्ट्र की ज़मीन, पूँजी और उद्योग पर राष्ट्र का स्वामित्व और नियंत्रण हो अथवा मुट्ठी भर निजी आदमी उनका मनमाना उपयोग करते रहें? यह निश्चित है कि जबतक जमीन, पूंजी और उद्योगों का नियंत्रण सरकार के हाथ में न हो, तबतक श्रम का भविष्य वह पैदावार का अथवा श्रम का समान-विभाजन नहीं कर सकती है। दूसरा सवाल यह है कि जबतक पूँजीवाद कायम रहता है तबतक प्रभुत्व किसका रहे, धनिक का या श्रमिक का? मजदूर दल में जो लोग व्यवसाय-संघों के तरीक़ों को

मानते हैं वे उद्योग-धन्धों में इस शर्त पर पूंजीवादी तरीक़ा जारी रहने दे सकते हैं कि मुनाफे का ज्यादातर हिस्सा मजदूरों को मिल जाया करे। आज की अपेक्षा उस दशा में पूँजीवाद को क़ायम रखना ज्यादा आसान होगा। हरएक देश में श्रमजीवियों की संख्या ही अधिक होती है, अतः इस व्यवस्था के अधीन ज्यादातर आदमियों को सन्तुष्ट रक्खा जा सकेगा। जिस सरकार को अधिकतर मतदाताओं का समर्थन प्राप्त हो, वह भूस्वामियों और पूँजीपतियों से आय-कर और अतिरिक्त आय-कर आसानी से वसूल कर सकती है। वह पैतृक सम्पत्ति पर बेहिसाब कर लगाकर, कारखानों के क़ानून बना कर मज़दूरियाँ निश्चित करने के लिए समितियाँ और कीमतें स्थिर करने के लिए कमीशन नियुक्त करके तथा जिन व्यवसायों में मज़दूरियाँ कम हों उनको आर्थिक सहायता देने के लिए आयकर का उपयोग करके राष्ट्रीय आय को इस प्रकार विभाजित कर सकती है कि आजकल के धनी कंगाल और मज़दूर धनी हो जायँ। जब पार्लमेंण्ट की लगाम सम्पत्तिवानों के हाथ में थी, तब उन्होंने मज़दूरों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की कोशिश की। अब यदि आय को समान रूप से बाँटने का सिद्धान्त स्वीकार न किया गया तो मज़दूर-वर्ग सम्पत्तिवानों से अधिक-से-अधिक रुपया छीनने की कोशिश क्यों न करेगा? आज तो पूंजीपति समाजवाद से रक्षा पाने के लिए व्यवसाय-संघों की आड ले रहे हैं, किन्तु वह समय आ रहा है जब पूँजीवादियों को मज़दूर-पूंजीपतियों से रक्षा पाने के लिए समाजवाद की पुकार मचानी पड़ेगी।

: ६ :

पूँजीवाद में निजी पूँजी

अबतक हमने सामूहिक रूप में पूँजीवाद का विचार किया। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि अपनी खुद की थोड़ी पूँजी रखने वालों पर व्यक्तिशः पूँजीवाद का क्या असर होता है। मान लीजिए कि आपने अपनी आमदनी में से कुछ रुपया बचा लिया और आप उस रुपये को पूँजी के तौर पर काम में लाना चाहते हैं, ताकि आपकी आमदनी में थोड़ी वृद्धि हो सके। आप उस रुपये से कपड़े सीने की मशीन खरीद लेते हैं और उसकी सहायता से अपनी आमदनी बढ़ा लेते हैं। लोग कहेंगे कि यह मशीन ही आपकी पूंजी है। किन्तु असल में पूँजी तो वह रुपया था जो मशीन खरीदने के लिए बचाया गया था और चूंकि वह रुपया मशीन बनाने वाले मजदूरों को पहले ही दिया जा चुका, अतः वह रुपया रहा ही कहाँ ? अब तो सिर्फ़ मशीन आपके हाथ में है जो बराबर घिसती जायगी और आखीर में उसकी क़ीमत पुराने लोहे के बराबर रह जायगी। यदि आगे चलकर आपको मशीन की ज़रूरत न रह जाय तो आप इसको बेच सकते हैं, किन्तु दूसरे लोग भी यदि अपनी-अपनी मशीनें बेच डालने की फ़िक्र में हों तो आपको मुश्किल पड़ जायगी।

निजी पूँजी क्या है ?

कोई भी सौदा करने के लिये हमेशा दो पक्षों की ज़रूरत होती है, किन्तु दोनों पक्षों को अलग-अलग चीज़ों की ज़रूरत होनी चाहिए। यदि दोनों पक्षों को एक ही चीज़ की ज़रूरत हो तो सौदा नहीं हो सकता। यदि आप के पास सौ रुपया बचा हुआ है तो आप यह रुपया उस आदमी को दे सकते हैं जिसको अपना कारबार जमाने के लिए सौ रुपये की ज़रूरत हो। आप उसको सौ रुपया दीजिए और वह

अपनी आमदनी में से ६ रुपया वार्षिक आपको दे दिया करेगा। लोग समझेंगे कि आपने सौ रुपये किसी कारबार में लगा दिये, जिनका मूल्य सौ रुपया ही रहेगा और इस प्रकार आपने देश की पूँजी में सौ रुपये की वृद्धि की। दूसरी तरफ़ यह कहा जायगा कि उस आदमी को, जिसे आपने रुपया दिया, पूँजी मिल गई। किन्तु इस लेन-देन का असली मतलब इतना ही होगा कि आपने अपने सौ रुपये खा-पका जाने के लिए दूसरे आदमी को दे दिये और आपको यह अधिकार मिल गया कि देश की आय में से आप प्रति वर्ष बिना कोई श्रम किये छः रुपये ले लिया करें। अतः न तो हम मशीन को पूँजी मानकर चल सकते हैं और न उस रुपये को जो छः रुपया सैकड़ा के हिसाब से प्राप्त होता है। यदि कोई सरकार इस तरह की पूँजी को पूँजी मानकर कर लगाने की कोशिश करे तो उसे निराश ही होना पड़ेगा। कारण, वह कर कभी वसूल न हो सकेगा।

जो पूँजी हम लगा चुकते हैं या ख़र्च कर चुकते हैं, वह पूँजी पूँजी नहीं रहती है, क्योंकि यह नहीं हो सकता कि रोटी खाई न जाय और पेट भर जाए। ज़मीन, जायदाद आदि से हम व्यक्तिशः समय पर लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि हम उसको बेच सकते हैं। किन्तु यदि हम उस पर कर लगा कर सार्वजनिक लाभ उठाना चाहें तो हम सफल नहीं हो सकते। उस हालत में सभी को अपनी-अपनी जायदादों को बेचने की ज़रूरत पैदा हो जायगी और उनका बिकना मुश्किल हो जायगा। रेलों, कारख़ानों आदि में जो करोड़ों रुपया लग चुका है, वह हिसाब की पोथियों में दर्ज भले ही रहे, किन्तु हम उसे वसूल नहीं कर सकते हैं। उसके बावजूद भी देश तो निर्धन ही रहेगा।

निजी पूँजी और सूद

पूँजीवादी संसार में कपड़े-बाज़ार की तरह रुपया-बाज़ार का भी अस्तित्व होता है। इस बाज़ार में रुपये की ख़रीद-फ़रोख़्त होती है और तेज़ी-मन्दी का हमेशा ज़ोर रहता है। इस बाज़ार के खिलाड़ी कभी बहुत प्रसन्न और कभी बहुत खिन्न नज़र आते हैं। इसके तरीक़ों को समझना ज़रा

मुश्किल होता है। यहां परोपकार जैसी चीज़ के लिए कोई स्थान नहीं होता। जब हम रुपया उधार लेते हैं तो हमको उसके बदले कुछ अतिरिक्त रक़म और चुकानी पड़ती है। साधारण भाषा में इसी को सूद कहते हैं। यदि हम अपना बचा हुआ रुपया दूसरे के पास जमा कराते हैं और उसके बदले में कुछ रकम भी ख़र्च करते हैं तो इसको अर्थ-शास्त्री अप्रत्यक्ष सूद कहेंगे। किन्तु यदि हम अपना बचा हुआ रुपया दूसरे को उधार देते हैं और उसके बदले में कुछ रक़म वसूल करते हैं तो यह प्रत्यक्ष सूद कहा जायगा। आजकल रुपया लेने में कुछ मिलता नहीं, उल्टा देना ही पड़ता है। इस का कारण यह है कि समाज में आय का समान बंटवारा न होने के कारण ऐसे लोग बहुत कम हैं जो रुपया उधार दे सकते हैं। इसके विपरीत ऐसे लोगों की बहुतायत है जो रुपया उधार लेने और उसका अच्छा मुआविज़ा देने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। किन्तु यदि हमारे समाज में ग़रीबों के बजाय धनिकों की संख्या अधिक होजाय तो स्थिति बिल्कुल उल्टी हो सकती है। उस हालत में बैंक हमारा बचा हुआ रुपया जमा रखने के लिए बहुत ऊंची कीमत वसूल करेगा। किन्तु जबतक पूंजीवाद है तब-तक यह स्थिति पैदा नहीं हो सकती।

रुपया-बाज़ार में बचे हुए रुपये के बदले वार्षिक आमदनियाँ ख़रीदी जाती हैं। सौ रुपये के बदले कितनी वार्षिक आय ख़रीदी जा सकती है, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि बाज़ार में कितना रुपया मौजूद है और उसको लेने वालों की संख्या कितनी है। सुरक्षितता और परिस्थितियों के अनुसार कभी वह तीन रुपया सैकड़ा, कभी छः रुपया सैकड़ा और कभी नौ रुपया सैकडा भी हो सकती है। किन्तु ग़रीब लोगों की रुपया-बाज़ार में गुज़र नहीं होती। वे निजी व्यक्तियों से रुपया उधार लेते हैं और उसके लिये उन्हें बहुत अधिक रक़म बतौर सूद के देनी पड़ती है। बैंक की रुपया उधार देने की दर छः रुपया सैकडा होने पर भी उनको वहाँ से रुपया नहीं मिल सकता। उन्हें ३७॥ फी सैकड़ा अथवा कभी-कभी ७५ फ़ी सैकडा तक सूद देना पड़ता है। इसकी वजह यह है कि

ग़रीबों से रुपया वापस मिलने की उतनी निश्चिन्तता नहीं होती। बैंकों से तो सरकारें, कारख़ानेदार और बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ आसानी से रुपया ले सकती हैं, क्योंकि उनका रुपया डूबने की आशंका नहीं होती। फिर बैंकों को दस-दस बीस-बीस रुपयों पर मासिक सूद उगाहने के बजाय हज़ारों और लाखों रुपयों पर छमाही या वार्षिक सूद वसूल करने में कम ख़र्च और सुविधा होती है, इसलिए वे मालदारों के साथ ही लेन-देन करना पसन्द करते हैं।

निजीपूँजी और सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियाँ

शहरों में आजकल व्यवसायी लोग ख़ास-ख़ास तरह के बड़े-बड़े व्यवसाय जारी करने के लिए कम्पनियाँ क़ायम करते हैं और उनके लिए लोगों से रुपया उधार लेते हैं। किन्तु यहां उधार लेने का तरीक़ा साधारण तरीक़े से थोड़ा भिन्न होता है? जो लोग इन कम्पनियों को रुपया देते हैं, वे हिस्सेदार कहलाते हैं। उनको यह आश्वासन दिया जाता है कि व्यवसाय जारी होने पर वह उनके नियंत्रण में रहेगा और जो मुनाफ़ा होगा वह क़र्ज़ की मात्रा के अनुसार उनमें बाँट दिया जायगा। यदि कम्पनी को मुनाफ़ा न हो तो लोगों का रुपया डूब जाता है, किन्तु कम्पनी के घाटे की जिम्मेदारी हिस्सेदारों पर नहीं होती है। इसे हिस्सेदारों की मर्यादित जिम्मेदारी (Limited liability) कहते हैं। कम्पनियों में कुछ हिस्से ऐसे भी होते हैं जिन पर सूद की दर छः या सात रुपया सैंकड़ा निश्चित कर दी जाती है। साधारण क़र्ज़दाताओं को कुछ भी मिलने के पहले इन हिस्सों का सूद चुकाया जाता है, किन्तु इस हालत में यदि कम्पनी को अधिक मुनाफ़ा हो तो ये हिस्सेदार उसका लाभ नहीं पा सकते। ये हिस्से 'डिबेंचर' अर्थात् विशेष प्रकार के शेयर कहलाते हैं।

कम्पनियों के शेयर (हिस्से) उनके प्रचलित मूल्य के अनुसार बाजार में बेचे जा सकते हैं और नकद रुपया प्राप्त किया जा सकता है। जिस जगह ये शेयर ख़रीदे और बेचे जाते हैं उसको 'स्टाक एक्सचेंज' कहते हैं और वहाँ काम करने वालों को 'शेयर दलाल' और

स्टाक-जाबर के नाम से पुकारा जाता है। स्टाक एक्सचेंज यानी शेयर बाज़ार मे सट्टा भी होता है जिसमें काल्पनिक शेयरों पर काल्पनिक कीमतें लगाई जाती है। किन्तु अभी हम स्थापित कम्पनियों के शेयरों की ख़रीद-बिक्री पर ही विचार करें। राष्ट्र के हित की दृष्टि से यह महत्व की बात है कि हमारी पूँजी नई कम्पनियों की स्थापना अथवा पुरानी कम्पनियों के यन्त्रों और कार्य-क्षेत्र के विस्तार में लगे। किन्तु शेयर बाज़ार में ऐसा कुछ नहीं होता। उदाहरण के लिए आप किसी रेलवे कम्पनी के पचास हज़ार रुपये के शेयर ख़रीदते हैं, किन्तु यह रुपया रेलवे के विस्तार के लिए अथवा मुसाफ़िरों की सुविधा के लिए ख़र्च न होगा। जो होगा वह यही कि हिस्सेदारों की सूची में दूसरे नामों के बजाय आपका नाम लिख जायगा और जो आमदनी पहले दूसरों को होती थी वह आपको होने लगेगी। साथ ही आपका रुपया शेयर बेचने वालों की ज़ेब में चला जायगा, जिसका वे जुए, शराब आदि में मनमाना उपयोग कर सकते हैं। इस तरह स्टाक एक्सचेंज में एक दिन का लेन-देन देश की औद्योगिक पूँजी में नाम के लिए लाखों रुपये की वृद्धि कर सकता है, किन्तु वास्तव में वह रुपया विलास और अनाचार में ख़र्च हो सकता है और व्यक्तियों को कंगाल बना सकता है।

इस सम्भावना से बचने के लिए नई कम्पनियों के शेयर ख़रीदे जा सकते हैं। किन्तु नई कम्पनियों मे बहुत अधिक सावधान रहने की ज़रूरत है। आजकल धूर्त लोग किसी श्रेष्ठ उद्देश्य के नाम पर कम्पनियां खडी करते हैं और शेयरों द्वारा अधिक-से-अधिक रुपया इकट्ठा कर उसे कई तरह से उडा देते हैं और बाद में कम्पनियों की इति-श्री कर देते हैं। ऐसी धोखा-धडियों से जनता की रक्षा करने के लिए सरकार को क़ानून बनाने पड़े हैं, किन्तु वे अभी पूरी तरह बन्द नहीं हुई हैं। कुछ कम्पनियां ईमानदार लोगों द्वारा शुरू की जाती हैं, किन्तु वे ठोस पाये पर खड़ी नहीं होतीं। उनको बीच में ही नाम-मात्र के मूल्य पर दूसरी कम्पनियों के हाथ बिक जाना पड़ता है और इस प्रकार उनके प्रवर्तकों का शुरू का सारा परिश्रम व्यर्थ चला जाता है और प्रारम्भिक

हिस्सेदार बड़े घाटे में रहते हैं। ऐसी दशा में सुस्थापित पुरानी कम्पनी के शेयर खरीदना ही निरापद होता है। चाहे आमदनी कम हो, किन्तु यदि सरकारों अथवा म्यूनिसिपैलिटियों-जैसी संस्थाओं को क़र्ज़ दिया जायगा तो वह पूंजी का सब से अच्छा विनियोग कहा जायगा।

हमारे शहरों में सट्टे का श्रान प्रचार है। यह एक प्रकार का जुआ है जिसको पूँजीवाद ने जन्म दिया है। स्टाक एक्सचेंज में बिना तत्काल रुपया या शेयर-सर्टिफ़िकेट दिये शेयर ख़रीदे या बेचे जासकते हैं। सौदे की अगली तारीख़ को, जो पन्द्रह दिन बाद तक निश्चित हो सकती है, रुपया या शेयर-सर्टिफ़िकेट दिये जाते हैं। अब इन पन्द्रह दिनों में ही शेयरों की क़ीमत में ज़मीन-आसमान का अन्तर पड़ सकता है। कम्पनियों के शेयरों का कम या अधिक बिकना या हिस्सेदारों में सालाना कम या अधिक मुनाफ़ा बंटना विभिन्न चीज़ों की पैदावार पर निर्भर करता है। रबड़, कोयला, तेल, अनाज आदि चीज़ों की फ़स्लों के अच्छे-बुरे होने के अनुसार सम्मिलित पूँजी पर चलने वाली कम्पनियों के व्यवसाय और उन्नति के लक्षणों में जैसे-जैसे घटा-बढ़ी होती है, वैसे-वैसे उनका विकास और पतन होता है और लोगों में शंकायें और आशंकायें पैदा होती हैं। इस कारण शेयरों की क़ीमतें न केवल सालोंसाल, बल्कि रोज़-रोज़, घन्टे-घन्टे और उत्तेजना के समय मिनिट-मिनिट पर बदलती रहती हैं। जो शेयर वर्षों पहले सौ रुपये में ख़रीदा गया हो, उससे एक हज़ार रुपया वार्षिक आय भी हो सकती है और तीस रुपया भी, वह एक लाख रुपये में भी बेचा जा सकता है और तीस रुपये में भी। साथ ही यह भी सम्भव हो सकता है कि उस शेयर पर न केवल आमदनी ही न हो, बल्कि उसको बेचने जावें तो एक कौड़ी भी वसूल न हो। इस प्रकार चूँकि शेयरों के भाव बदलते रहते हैं और स्टाक एक्सचेंज में शेयरों का रुपया या सर्टिफिकेट तत्काल देने की ज़रूरत नहीं पड़ती, इसलिए लोग यह करते हैं कि अपने ख़याल के अनुसार जिस कम्पनी के शेयरों की

निजी पूंजी और सट्टा

क़ीमत बढ़ने की सम्भावना हो, उसके शेयर ख़रीद लेते हैं और जिस कम्पनी के शेयरों की क़ीमत घटने की सम्भावना हो, उसके शेयर बेच देते हैं। यदि उनका अनुमान सही निकलता है तो वे भुगतान की तारीख़ के पहले, अपने ख़रीदे हुए शेयर मुनाफ़े के साथ बेच देते हैं और बेचे हुए शेयर ख़रीद लेते हैं। बाद में, भुगतान के दिन बेचे हुए शेयरों का रुपया और ख़रीदे हुए शेयरों के सर्टिफ़िकेट उन्हें मिल जाते हैं और वे मूल सौदे के अनुसार ख़रीदे हुए शेयरों की क़ीमत और बेचे हुए शेयरों के सर्टिफ़िकेट दे देते हैं। इस प्रकार शेयरों के ख़रीद-विक्री वाले दिन के भावों में और भुगतान के दिन वाले भावों में जो अन्तर होता है, वह उनकी जेबों में रह जाता है।

स्टाक एक्सचेंज में अजब तरह के शब्द काम में आते हैं। अमुक तरह का सौदा करने वाले सांड और अमुक तरह का सौदा करने वाले भालू कहलाते हैं। जो लोग आँशिक क़ीमत देकर नई कम्पनी के पूरी क़ीमत के शेयर अपने लिये सुरक्षित कर लेते हैं और पूरी क़ीमत चुकाने का समय आने के पहले उन शेयरों को मुनाफ़े के साथ बेच देने की आशा रखते हैं, वे 'हिरण' कहलाते हैं।

यह ज़रूरी नहीं है कि लोगों का अनुमान सही ही निकले, वह ग़लत भी निकल सकता है। जिन शेयरों के भाव घटने की उम्मीद हो, उनके भाव बढ़ सकते हैं। इस प्रकार लाभ के बजाय घाटा भी हो सकता है। किन्तु यह भावों के अन्तर जितना ही होगा। वह साधारणतः फ़ी सैकड़ा पाँच-दस रुपये से अधिक नहीं होता है। 'साँढ' हर्जाना देकर और भालू जुर्माना देकर अपने हिसाब का भुगतान अगली तारीख़ तक लम्बा भी सकते हैं। सट्टे के इस खेल में लोग लाखों रुपया खोते और कमाते हैं। कुछ धनवान स्वयं सट्टा न करके शेयर-दलालों की मारफ़त सट्टा करते हैं। इसके अलावा कुछ सट्टा-सहायक दुकानें भी होती हैं, जो अपने ग्राहकों से थोडी रक़म लेकर उनके लिए दस गुनी क़ीमत तक के शेयरों की खरीद-विक्री करती हैं। उस दशा में यह होता है कि या तो ग्राहक की सब रक़म ही डूब जाती है या कई गुनी रक़म उसके पल्ले पढ़

जाती है। इन दुकानों पर स्टाक एक्सचेंज संस्था का कोई बन्धन नहीं होता, जैसा कि नियमित शेयर दलालों पर होता है। इसलिए यदि वे अपने ग्राहकों को धोखा देती हैं तो उसका कोई इलाज नहीं हो सकता।

स्टाक एक्सचेंज में कई तरह से जुआ खेला जाता है और उसकी शर्तों के अलग-अलग नाम निश्चित हैं। लन्दन की केपल कोर्ट में, न्यूयार्क की वाल स्ट्रीट में, यूरोप के बोरसों (विनिमय बाज़ारों) में, बम्बई, कलकत्ते के स्टाक एक्सचेंज भवनों में रोज़ लाखों रुपयों का सट्टा होता है। न खरीदने वालों के पास रुपया होता है और न बेचने वालों के पास माल; सब काम ज़बानी जमा-ख़र्च से चल जाता है, किन्तु किसी को यह ख़याल न करना चाहिए कि इस सट्टे से देश धनी होता है। लोग इस काम में जितनी शक्ति, साहस और बुद्धिमानी ख़र्च करते हैं, यदि उसको ठीक दिशा में लगाया जाय तो हमारे गन्दे घरों, रोग-प्रकोपों और अधिकांश जेलों का, जिनको पैदा करने में पूँजीवाद को वर्ष लगाने पड़े हैं, कुछ ही घंटों में खात्मा हो जाय।

निजी पूंजी और बैंक

बैंक लोगों को साख पर उधार रुपया देने का काम करता है और उसके बदले एक निर्दिष्ट रक़म उनसे वसूल कर लेता है। निर्दिष्ट कमीशन पर हुँडियां भी सिकारता है। बैंक की दर कम हो जाने पर व्यवसायी ख़ुश और बढ़ जाने पर परेशान हो जाते हैं। बैंक की दर कम होने का यह अर्थ होता है कि बैंक के पास अतिरिक्त रुपया उधार देने के लिये काफ़ी मात्रा में मौजूद है और उधार लेने वालों की संख्या कम है। इसके विपरीत जब बैंक दर बढ़ती है तो समझना चाहिए कि बैंक के पास उधार देने के लिए रुपया अधिक नहीं है और रुपया मांगने वाले ज़्यादा हैं। जब पिछली हालत होती है तो बैंक के अलावा और जगह भी रुपये का भाव तेज़ हो जाता है, अर्थात् सूद की दर बढ़ जाती है।

सवाल यह है कि बैंकों के पास लोगों को उधार देने के लिए रुपया कहाँ से आता है? बात यह है कि लोग अपना बचा हुआ रुपया बैंकों में जमा कराते हैं और आवश्यकतानुसार वापस लेते रहते हैं। इस प्रकार

बैंकों के पास हज़ारों आदमियों का लाखों रुपया जमा रहता है। इसी रुपये को वे उधार देकर बहुत सारा मुनाफ़ा कमाते हैं। यदि बैंकों में रुपया जमा कराने वाले एक साथ अपना सब रुपया वापस निकालने की सोचलें तो बैंकों के लिए मुश्किल हो जाय और उन्हें अपना कारबार बन्द कर देना पड़े।

बैंक जो रुपया उधार देते हैं उसको अतिरिक्त आजीविका ही समझना चाहिए। किन्तु बैंक ऐसा नहीं समझते मालूम होते हैं। वे तो इस विश्वास पर रुपया देते हैं कि क़र्ज़ लेने वाला आसानी से रुपया वापस चुका देगा। किन्तु क्या साख के आधार पर मकान, कारख़ाने आदि बनाये जा सकते हैं? नहीं। वास्तव में रुपया उधार देने का मतलब होता है कि बैंक ने हमारे लिए वे सब ठोस चीज़ें सुलभ कर दी हैं जिनकी हमको जरूरत हो सकती है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि एक बैंक ने पाँच हजार रुपया उधार देकर उसके साथ पांच हजार रुपये की साख भी दी है और इस प्रकार दस हजार रुपये का व्यवहार किया है, वे भूल करते हैं। साख के आधार पर उद्योगों का विस्तार नहीं हो सकता। दो रुपया दो ही रुपये का काम देगा, चार का नहीं।

रुपये की दर पूर्ति और मांग (supply and demand) के सिद्धान्त के अनुसार स्थिर होती है। जब रुपया कम हो जाता है और मांग बढ़ जाती है तो उसकी दर बढ़ जाती है और जब रुपया अधिक मात्रा में सुलभ होता है और मांग कम होती है तो उसकी दर घट जाती है।

बैंक जब अपना रुपया विवेक-पूर्वक उधार देते हैं तो सुरक्षित रहते हैं। यदि वे हानिकारक कामों में रुपया लगावें, ग़लत लोगों पर भरोसा करें या सट्टा करें तो अपने-आपको और अपने ग्राहकों को बर्बाद कर दे सकते हैं, जब बहुत सारे बैंक थे, तब बहुधा ऐसा होता था। किन्तु अब बड़े बैंक छोटे बैंकों को हड़प कर इतने कम और इतने बड़े हो गये हैं कि वे एक दूसरे को नहीं टूटने देते और न सरकारें ही उनको टूटने देती हैं।

किन्तु यदि कोई सरकार पूँजी और साख पर भारी कर लगावे तो नतीजा यह होगा कि सब साख नष्ट हो जायगी, बैंक दिवाला निकाल देंगे

और शेयर आदि कौड़ियों के भाव भी न बिक सकेंगे। धनी निर्धन हो जायेंगे और उन पर आश्रित बहुसंख्यक गरीब बेकार। उस दशा में यदि सरकार उद्योगों की व्यवस्था अपने हाथ में न ले तो लूट-मार और दंगे हो सकते हैं और इसके बाद बचे हुए लोग किसी नेपोलियन या मुसोलिनी के आगे खुशी-खुशी घुटने टेक दे सकते हैं और वह निरंकुश सत्ताधिकारी अशिक्षित जनता की हिंसात्मक शक्तियों को संगठित करके पुरानी अवस्था को पूर्णतः या अंशतः पुनः कायम कर दे सकता है।

: ७ :

सिक्का और उसकी सुविधायें

अबतक हमने अतिरिक्त रुपये अर्थात् निजी पूँजी के बारे में विचार किया। किंतु सब रुपया, जो काम में आता है, अतिरिक्त रुपया नहीं होता। दुनिया में खाने, पहनने और रहने पर शेयरों आदि की अपेक्षा कहीं अधिक खर्च होता है। अतः सवाल यह है कि रुपया क्या है और यदि अतिरिक्त रुपया न हो तो रुपये की कीमत कैसे स्थिर हो?

रुपया वास्तव में चीज़ें ख़रीदने का एक सुविधा-जनक साधन और मूल्य का माप है। यदि वह न हो तो ख़रीद-बिक्री असम्भव हो जाय। अवश्य ही चीज़ों के बजाय चीज़ों का लेन-देन भी हो सकता है, किंतु उसमें कई तरह की दिक्कतें पेश आती हैं। प्रथम तो चीज़ों को हमेशा साथ लेकर नहीं घूमा जा सकता, दूसरे चीज़ों में चीज़ों का मूल्य ठीक-ठीक वसूल करना मुश्किल होता है और तीसरे सामने वाले पक्ष के लिए अमुक प्रकार की चीज़ें बदले में लेना अनुकूल या प्रतिकूल भी हो सकता है। इसलिए सरकार सुविधाजनक आकार और निर्दिष्ट वज़न वाले सोने के सिक्के जारी करती है, जिनको आसानी से साथ में ले जाया जा सकता है। जिन कामों के लिए सोने जैसी मूल्यवान धातु की आवश्यकता नहीं होती, उनके लिए सरकार चाँदी और कांसे के सिक्के बनाती है और

क़ानून द्वारा यह तय कर देती है कि इतने चांदी के सिक्के सोने के एक सिक्के के बराबर माने जायेंगे। इन सिक्कों के द्वारा लोग इच्छानुसार चीज़ें ख़रीद सकते हैं।

रुपया आजीविका का चिन्ह है, इस अर्थ में कि उसके द्वारा खाने-पीने और पहनने की चीज़ें खरीदी जा सकती हैं। किन्तु सरकारी नोट या धातु के सिक्कों को हम खा, पी या पहन नहीं सकते। यदि बाज़ार में मक्खन या घी न हो तो हमारे ख़ज़ाने में लाखों रुपये होने पर भी हम को सूखी रोटी खाकर ही गुज़र करना पड़ेगा।

चीज़ों की क़ीमत सस्ती और महंगी होती रहती है। जब कोई चीज़ अधिक मात्रा में होती है तो वह सस्ती और कम मात्रा में होती है तो महंगी हो जाती है। किन्तु चीज़ों के सस्ते और महंगे होने का यही एक-मात्र कारण नहीं होता। रुपये की अधिक या कम मात्रा का भी चीज़ों के मूल्य पर असर पड़ता है। यदि सरकार अपनी टकसाल से प्रचलित रुपये जितना ही रुपया और निकाल दे तो जिस चीज़ के लिए पहले एक रुपया देना पड़ता था, उसके लिए दो रुपया देना पड़ेगा, हालांकि यह हो सकता है कि उस चीज़ की मात्रा में कोई कमी न हुई हो।

सोने का सिक्का सब से सुरक्षित सिक्का समझा जाता है। सरकारों के पलट जाने पर भी उसके मूल्य में कोई फ़र्क नहीं पड़ता। यदि सरकार आवश्यकता से अधिक सिक्के ढालने लगे तो उन सिक्कों को गलाकर दूसरे काम में—ज़ेवर आदि बनाने के काम में—लाया जा सकता है। किन्तु आजकल सोने के सिक्कों का मूल्य बहुत कम हो गया है। उनके स्थान पर काग़ज़ के टुकड़े जारी हो गये हैं, जिनका मूल्य स्वतंत्र रूप से नहीं कुछ के बराबर होता है।

सरकारें सिक्कों के मामले में बड़ा गोलमाल कर सकती हैं। इंग्लैण्ड के बादशाह हेनरी आठवें ने कम वज़न के सिक्के जारी करके अपने लेनदारों को धोखा दिया था। जब इस प्रकार के धोखों का पता चलता है तो चीज़ों की क़ीमतें और मज़दूरियाँ बढ़ जाती हैं। ऐसी दशा में देनदारों को लाभ होता है, क्योंकि वे हल्के वज़न के सिक्कों में अपना

क़र्ज़ चुका देते हैं। इस प्रकार जितना लाभ देनदारों को होता है उतना ही नुक़सान लेनदारों को हो जाता है। कहने का आशय यह कि बेईमान राजा देश के लिए बड़ा खतरा होता है। किन्तु आज तो श्रमजीवी मतदाताओं द्वारा निर्वाचित प्रजातंत्री सरकारें भी सिक्के के मामले में ऐसे उपाय काम में लाती हैं कि निर्दोष विधवायें, जिनके लिए उनके पति वर्षों कष्ट सहकर बीमे की किश्तें चुकाते हैं और आराम की ज़िंदगी की व्यवस्था करते हैं, भूखों मरने लगती हैं, जीवनभर सम्मानपूर्वक और कठिन सेवा के बाद मिली हुई पेन्शनें बेक़ार हो जाती हैं और बिना किसी योग्यता के एक आदमी धनवान बन जाता है तथा दूसरा बिना किसी अपराध के दिवालिया हो जाता है।

आजकल हम सोने के सिक्कों का उपयोग नहीं करते। उनके बजाय हम काग़ज़ के टुकड़े अर्थात् सरकारी नोटों का उपयोग करते हैं जिन पर बड़े-बड़े अक्षरों में पांच रुपया, दस रुपया, सौ रुपया लिखा होता है। हम इन काग़ज़ के टुकड़ों द्वारा अपना क़र्ज़ चुका सकते हैं और हमारे लेनदार को चाहे पसन्द हो या न हो, इन नोटों को लेकर क़र्ज़ का भुगतान कर लेना पड़ेगा। मान लीजिए कि हमारी सरकार को ७ अरब ७० करोड़ रुपया क़र्ज़ देना है। यदि वह चाहे तो ७ अरब ७० करोड़ के काग़ज़ के नोट छापकर अपना क़र्ज़ चुका सकती है। उसको ऐसा करने से कोई नहीं रोक सकता। इसका नतीजा यह हो सकता है कि उन हज़ारों नोटों से एक समय चूल्हा जलाने जितना ईंधन भी न खरीदा जा सके।

यह कोई असम्भव बात नहीं है। ऐसा हाल ही में हो चुका है। गत महायुद्ध के बाद जब विजयी राष्ट्रों ने हर्जाने के नाम पर जर्मनी से शक्ति से अधिक रुपये की मांग की तो उसने अन्धाधुन्ध काग़ज़ के नोट जारी कर दिये। इसका नतीजा यह हुआ कि जर्मन रुपया बहुत सस्ता हो गया और देनदारों ने अपने लेनदारों के क़र्ज़ का बड़ी आसानी से भुगतान कर दिया। इसमें जर्मन लोगों और विदेशियों को समान रूप से हानि-लाभ उठाना पड़ा। जो लोग लेनदार थे वे घाटे में रहे और जो देनदार थे वे नफ़े में। जर्मन कारख़ानेदारों ने अपना सारा क़र्ज़ चुका

दिया और अन्य देशों के बाज़ारों में सस्ता माल बेचने लगे। उस समय कोई भी रुपया इकट्ठा करने की कोशिश न करता था, क्योंकि उसकी क़ीमतें घन्टे-घन्टे में कम होती रहती थीं। जो भोजन एक घन्टे पहले पचास लाख में मिल सकता था, उसकी घन्टे भर बाद ७० लाख क़ीमत हो जाती। इसलिए सब लोगों का यही ध्यान रहता कि रुपया ख़र्च कर दिया जाय और उसके बदले कोई ऐसी ठोस चीज़ ख़रीद ली जाय जिसकी उपयोगिता नष्ट न हो और मूल्य बराबर क़ायम रहे। इस उथल-पुथल का उस समय अन्त हुआ, जब जर्मन सरकार ने नये सोने के सिक्के जारी किये और पुराने नोटों को रद्द कर दिया।

रुपये का मूल्य कैसे कम या ज्यादा होता है, यह हमने देख लिया। चूँकि रुपये का मूल्य कम होने से लेनदारों को और तेज होने से देनदारों को धोखा होता है, इसलिए सरकार का यह अत्यन्त पवित्र आर्थिक कर्त्तव्य है कि वह रुपये का मूल्य स्थिर रक्खे। किन्तु सरकारें रुपये के मूल्य के साथ खिलवाड़ कर सकती है, इसलिए यह जरूरी है कि उनमें ऐसे आदमी हों जो ईमानदार हों और रुपये को भली-भांति समझते हों।

आजकल दुनिया में एक भी ऐसी सरकार नहीं है, जो इस मामले में पूरी ईमानदार हो। कम या अधिक सभी सरकारें काग़ज़ी नोट जारी करके अपना काम चलाती हैं। कुछ लोग, जो अपने-आपको अर्थ-विशेषज्ञ मानते है, समझते हैं कि अधिक मात्रा में रुपया जारी करके उद्योगों के लिए पूँजी सुलभ की जा सकती है अथवा देश की दौलत बढ़ाई जा सकती है। किन्तु यह इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि एक रुपये को दो रुपया मान कर देश के धनी होने का स्वप्न देखा जाय।

अब यदि रुपये का मूल्य एक ही सतह पर स्थिर रखना आवश्यक हो तो यह सवाल पैदा होता है कि वह सतह क्या हो? मौजूदा सतह ही वह उचित सतह हो सकती है, किन्तु यदि वह बहुत घटी या बढ़ी हो तो घटा-बढ़ी के पहलेवाली सतह क़ायम रक्खी जा सकती है। इसके लिए यह ज़रूरी है कि सिक्कों और नोटों को उपयोगी चीज़ें माना जाय और उन्हें इतनी काफी संख्या मे जारी किया जाय कि लोगों की

आवश्यकता पूरी हो सके। सिक्कों और नोटों की क़ीमत चीज़ों की क़ीमत की तरह ही स्थिर होती है। जब चीज़ें आवश्यकता से अधिक बनती हैं तो सस्ती हो जाती हैं। किन्तु जब उनकी क़ीमत इतनी अधिक घट जाती है कि और अधिक नहीं घटाई जा सकती तो वही उनकी स्थिर क़ीमत हो जाती है। यही बात सोने के सिक्कों के बारे में कही जा सकती है। सोना और किसी चीज़ की अपेक्षा सिक्कों के लिए अधिक उपयोगी होता है, इसलिए गिन्नियों के रूप में एक औंस सोना पाट के एक औंस सोने की अपेक्षा अधिक मूल्य वाला होगा। किन्तु यदि सरकार आवश्यकता से अधिक गिन्नियाँ बनावे तो उनका भाव पाट के सोने से कम हो जायगा और सब चीज़ों के भाव बढ़ जायंगे। इसका नतीजा यह होगा कि लोग गिन्नियों को गलाकर उस सोने की दूसरी चीज़ें बनाने लगेंगे, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें अधिक मुनाफ़ा होगा। फलतः गिन्नियों की संख्या घट जायगी और उनकी क़ीमत बढ़ जायगी। इस प्रकार जबतक रुपया सोने का रहता है और उसका गलाना लाभकारी होते ही रोका नहीं जा सकता, तबतक सोने के सिक्के का मूल्य निश्चित और अपने-आप स्थिर रहता है।

इस प्रकार सोने के रुपये का मूल्य स्थिर हो जायगा और सब कीमतें सोने में स्थिर की जा सकेंगी। किन्तु सोने के पैसे-आने तो नहीं बनाये जा सकेंगे, क्योंकि वे इतने छोटे होंगे कि उनको काम में ला सकना कठिन होगा। इसी प्रकार जब लाख-पचास हज़ार रुपया देना-लेना हो तो हज़ारों गिन्नियों का बोझा ढोना भी मुश्किल होगा। अतः पहली कठिनाई को हल करने के लिए ताम्बे के पैसे और काँसे तथा चाँदी के आने जारी किये गये और यह तय कर दिया गया कि एक गिन्नी ३२० आने और १२८० पैसों के बराबर मानी जायगी। दूसरी कठिनाई को हल करने के लिए सरकार ने पचास, सौ और हजार के कागज के नोट जारी किये, जिन पर सरकार की ओर से यह वायदा लिखा रहता है कि जिस स्थान से यह नोट जारी किये गये हैं, वहाँ से इन नोटों के बदले नक़द रुपया मिल सकेगा। लोग इन नोटों को सोने जैसा ही समझ कर

खरीदने-बेचने के समय एक-दूसरे को देते रहते हैं।

इस प्रकार हम काग़ज़ के नोटों और ताम्बे तथा चाँदी के सिक्कों को काम में लाते हैं और देखते हैं कि वे सोने के सिक्कों के बराबर ही काम देते हैं। तब यह सवाल उठता है कि जब सोने के सिक्कों के बिना काम चल जाता है तो फिर सोने के सिक्के रक्खे ही क्यों जाँय? अवश्य ही यदि सरकारों की ईमानदारी पर भरोसा किया जा सके तो सोने के सिक्कों को हम उठा सकते हैं। किन्तु यह बहुत बड़ी 'यदि' है। जब सिक्का विशुद्ध सोने का होता है तो सिक्कों की ख़रीदने की शक्ति सरकार की ईमानदारी पर निर्भर नहीं रहती। बहुमूल्य धातु के रूप में वे मूल्यवान होते हैं और यदि सरकार ख़रीद-बिक्री की आवश्यकता से अधिक उनको जारी करे तो उनका दूसरा उपयोग भी किया जा सकता है। किन्तु सरकार काग़ज़ी रुपया बनाना तबतक जारी रख सकती है जबतक कि उसका कोई मूल्य ही न रह जाय। कुछ चीज़ों की क़ीमत अमुक कारण से घट या बढ़ सकती है। किन्तु जब चीज़ों की क़ीमत एकसाथ घटती या बढ़ती हैं तो चीज़ों की नहीं, रुपयों की क़ीमत बदलती है। जिन देशों में काग़ज़ी रुपया चलता हो, वहाँ की सरकारों को इन हलचलों को सावधानी के साथ देखते रहना चाहिए और जब क़ीमतें एकसाथ बढ़ें तो क़ीमतें घट जाने तक नोटों का प्रचलन कम कर देना चाहिए। इसके विपरीत जब सब क़ीमतें एक साथ घटें तो सरकारों को क़ीमतें बढ़ने तक नये नोट जारी करना चाहिए। ज़रूरी बात यह है कि देश में इतना रुपया हो कि उससे नक़द ख़रीद-बिक्री का सारा काम किया जा सके। ईमानदार और समझदार सरकार का यह काम है कि वह मांग के अनुसार पूर्ति का समन्वय करके रुपये का मूल्य स्थिर रक्खे।

आधुनिक बैंकों ने सिक्कों, नोटों या किसी प्रकार के रुपयों के बिना ही प्रचुर परिमाण में व्यवसाय का होना सम्भव कर दिया है। उदाहरण के लिये जब आपको किसी काम के लिये रुपया अदा करना होता है तो आप नक़द रुपया देने के बजाय अपने बैंक के नाम चेक काट देते हैं। यह चेक सिकरने के लिये किसी भी बैंक को दिया जा सकता है। इस

प्रकार रोज़ जितने चैक कटते हैं, वे अलग-अलग बैंकों के पास पहुँच जाते हैं और हरएक बैंक को पता चलता है कि कुछ चेकों का तो उसे दूसरे बैंकों को रुपया देना है और कुछ का दूसरे बैंकों से वसूल करना है। यदि इन सब चेकों की रक़म इकट्ठी जोड़ी जाय तो लाखों रुपये तक हो सकती है, किन्तु दी जाने और ली जाने वाली रक़म का अंतर कुछ सौ रुपया या इससे भी कम हो सकता है। इस तरह बैंकों ने Clearing house नाम की संस्था खड़ी की है जो यह मालूम करती है कि हरएक बैंक को शेष कितनी रक़म देनी या लेनी है। इस तरह भारी-भारी रक़मों के व्यवहार कुछ सौ रुपये इस बैंक से उस बैंक को भेज देने मात्र से निपट जाते हैं। किंतु अब बैंकों ने कुछ सौ रुपया भी इधर-से-उधर भेजने की दिक़्क़त को मिटा दिया है। वे एक बड़े बैंक में अपने हिसाब खोल लेते हैं, जिससे उनके आपस के हिसाब बड़े बैंक के रजिस्टरों में दो-चार अंक इधर-उधर लिख देने से ही तय हो जाते हैं और लाखों-करोड़ों का व्यापार सिक्कों या नोटों का उपयोग किये बिना ही हो जाता है। इस प्रकार हिसाब का रुपया अधिकाधिक असली रुपये का स्थान ले रहा है और जो माल ख़रीदा या बेचा जाता है, उसके लिये सिक्के और नोट सुलभ करने का ख़र्च प्रतिशत बराबर कम होता जा रहा है।

रुपये की क़ीमत अधिक हो या कम, वह स्थिर रहनी चाहिए। जब वह स्थिर नहीं रहती तभी लोगों को अड़चन होती है। इसलिए यह ज़रूरी है कि उसकी स्थिरता क़ायम रक्खी जाय। सरकार को काग़ज़ के नोटों द्वारा यह स्थिरता क़ायम रखनी पड़ती है। यदि सोने के सिक्के का प्रचलन हो तो उसका मूल्य अपने-आप भी स्थिर रह सकेगा। नई सोने की खानों का पता लगने के कारण सोना अधिक मात्रा में सुलभ हो जाय तो भी सोने के सिक्के का मूल्य स्थिर रहेगा। इसका विचित्र कारण यह है कि दुनिया में सोने की मांग प्रायः अनन्त है। इसलिए जबतक पूँजीवादी प्रणाली जीवित है तबतक सरकारों की ईमानदारी के बजाय सोने की स्वाभाविक स्थिरता पर विश्वास करना ही अधिक बुद्धिमानी का काम होगा।

खण्ड तीसरा : बदलें कैसे ?

१. उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण

२. क्रान्ति बनाम वैध पद्धति

३. कितना समय लगेगा ?

४. रूसी साम्यवाद

: १ :

उत्पत्ति के साधनों का राष्ट्रीयकरण

हमने देख लिया कि बैंक और रुपया सभ्यता के आवश्यक अंग बन चुके हैं। जहाँतक रुपया बनाने के व्यवसाय का ताल्लुक है, उसका पूरी तरह राष्ट्रीयकरण हो चुका है। सब रुपया सरकारी टकसाल में ही बनाया जाता है। निजी तौर पर सिक्के बनाना या उनको गलाना क़ानून की रू से अपराध क़रार दे दिया गया है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो लोग चाहे जैसे और चाहे जितने सिक्के बनाकर अपना मतलब सिद्ध करते और समाज में अव्यवस्था फैल जाती। अवश्य ही लोग रुपये के बजाय हुण्डियों और चेकों का उपयोग करते हैं, किन्तु यह तभी-तक सम्भव है, जबतक कि राष्ट्रीय रुपये का चलन है।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण

बैंकों का अभी राष्ट्रीयकरण नहीं हुआ है। अतः बड़े व्यापारी तो प्रचुर कमीशन देकर लाखों रुपया पा लेते हैं, किन्तु छोटे व्यापारियों को जिनकी ज़रूरतें भी छोटी ही होती हैं, बहुधा सूद की बहुत ऊँची दर पर सूदखोरों से रुपया उधार लेना पड़ता है। कारण, बैंक उनको रुपया देना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। किन्तु जब बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, तब उनका उद्देश्य ग्राहकों के हितों को बलिदान करके मुनाफ़ा कमाना न होगा, बल्कि वे देश के भले के लिये सब छोटे-बड़े व्यवसायों के लिए सस्ते-से-सस्ते भाव पर पूँजी सुलभ करेंगे।

इसके विरुद्ध बैंकों के संचालक यह दलील देते हैं कि बैंक-व्यवसाय इतना रहस्यपूर्ण और कठिन है कि कोई भी सरकारी विभाग उसका सफलतापूर्वक संचालन नहीं कर सकता। जो लोग ऐसा करते हैं वे खुद भी अपने व्यवसाय को अधूरा ही समझते हैं। यह उनकी ग़लत सलाह का ही परिणाम था कि गत महायुद्ध के बाद यूरोप में सर्वनाश के दृश्य

दिखाई दिये। बैंक का काम है कि रुपये को सुरक्षित जमा रक्खे और ग्राहक की आवश्यकतानुसार देता-लेता रहे। यह कोई कठिन काम नहीं है। सरकार का डाक-महकमा उसको करता ही है। हाँ, बैंक के पास जो बहुत सारा रुपया जमा रहता है, उसको उधार देने के काम में अवश्य विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। किन्तु आखिर इस काम को करता कौन है? बैंक संचालक नहीं, बैंक मैनेजर ही इस काम को करते हैं। उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति उच्च श्रेणी के सरकारी कर्मचारियों से कुछ अधिक अच्छी नहीं होती। अतः क्यों नहीं वह व्यक्तियों की नौकरी करने के बजाय राष्ट्र की नौकरी करना अधिक पसंद करेंगे?

किन्तु जिन लोगों ने बैंकों में पूँजी लगा रक्खी है, उनका क्या होगा? जब बैंकों का राष्ट्रीयकरण होगा तो सरकार पूँजीपतियों पर कर लगा कर पैसा इकट्ठा करेगी और उसके द्वारा लोगों के बैंक-शेयरों को खरीद लेगी। इस प्रकार लोगों को बैंकों के राष्ट्रीयकरण से कोई नुक़सान न होगा। यही तरीक़ा हम भूमि, रेलों तथा खानों के राष्ट्रीयकरण के लिए भी काम में ला सकते हैं।

इस तरीके को हमें भली भांति समझ लेना चाहिए। इस तरीके द्वारा सरकार बिना क्षति पूर्ति किये क्षति पूर्ति कर देती है। यह वास्तव में सम्पत्ति के अपहरण का ही एक प्रकार है, जिसमें राष्ट्र को कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता। यदि सरकार कोई ज़मीन का टुकड़ा, रेल, बैंक या कोयले की खान खरीदती है, और राजकीय करों द्वारा उसका मूल्य चुकाती है तो यह स्पष्ट है कि वह सम्पत्ति सरकार को मुफ्त में मिल जाती है; करदाताओं को ही उसका मूल्य चुकाना पड़ता है। और यदि वह कर आय-कर जैसा कर हो, जिससे कि राष्ट्र का अधिकतर भाग पूर्णतः या अंशतः मुक्त होता है, अथवा वह अतिरिक्त आय-कर या मृत्यु-कर हो जो पूंजीपति वर्गों से ही लिया जाता है, तो सरकार पूँजीपति वर्ग को अपने में से ही किसी एक की सम्पत्ति खरीद कर बिना किसी क्षति पूर्ति के

क्षति पूर्ति द्वारा

उसे किसी राष्ट्र को भेंट कर देने के लिए विवश करती हैं। इस प्रकार क्षतिपूर्ति समीकरण का एक उपाय है, जिसके द्वारा व्यक्ति-विशेष को, जिसकी ज़मीन, बैंक के शेयर या अन्य सम्पत्ति सरकार लेती है, सब नुकसान नहीं सहना पड़ता, बल्कि सारा पूँजीपति वर्ग उसमें हिस्सा बंटाता है। उस व्यक्ति-विशेष को उतना ही नुकसान होता है, जितना हिस्सा कि कर के रूप में वह सरकार को देता है। इससे बढ़कर युक्ति-संगत, विधि-विहित और परम्परानुकूल बात और क्या हो सकती है?

यह कल्पना-जगत की बात नहीं है, बल्कि ऐसी बात है जो की गई है और की जा रही है। इस योजना के अनुसार बहुत सारी निजी सम्पत्ति राष्ट्र की सम्पत्ति हो चुकी है। साथ ही धनिकों पर करों का बोझ भी काफी बढ़ गया है। सरकार आय-कर और अतिरिक्त आय-कर के रूप में और म्यूनिसिपैलिटियाँ म्यूनिसिपल करों के रूप में धनवानों से काफ़ी पैसा छीन लेती हैं। हिन्दुस्तान में स्थिति थोड़ी भिन्न है। यहां करों का अधिकतर बोझा ग़रीबों को ही सहन करना होता है और धनवान अपेक्षाकृत बचे हुए हैं। किन्तु जैसे-जैसे शासन में ग़रीबों की भावना बढ़ेगी, यहाँ भी वही होने वाला है जो पश्चिमी देशों में हो चुका है।

क्षतिपूर्ति के अलावा प्रतिस्पर्धा द्वारा भी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो सकता है। सरकार जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना चाहे उनको स्वयं जारी करे और जिस प्रकार एक बड़ा भण्डार छोटी दुकानों को

प्रतिस्पर्धा द्वारा

ख़त्म कर देता है, उसी प्रकार वह सस्ती चीज़ें बेचकर और अन्य प्रतिस्पर्धात्मक उपायों का आश्रय लेकर निजी उद्योगों को खत्म कर सकती है। किन्तु प्रतिस्पर्धात्मक उपाय अत्यंत अपव्ययी उपाय होते हैं। जिस जगह दूध की एक ही दुकान काफी हो, वहाँ दूसरी दुकान खोलने का यह अर्थ होगा कि ख़र्च पहले की अपेक्षा दुगुना हो जाय। आवश्यकता से अधिक चीज़ें पैदा करने का नतीजा बेकारी के रूप में प्रकट होता है। यदि इस उपाय द्वारा रेलों का राष्ट्रीयकरण किया जाय

तो सरकार को निजी रेलों के साथ-साथ सरकारी रेलों का जाल रचना होगा और किराया इतना कम कर देना होगा कि सारा आवागमन सरकारी रेलों के हाथ में चला जाय। इसका नतीजा यह होगा कि निजी रेलें बर्बाद हो जायेंगी। किन्तु क्या यह मूर्खतापूर्ण अपव्यय न होगा? प्रथम तो आवागमन के उपयोगी और पर्याप्त साधन, जिन पर भारी रकम खर्च हुई है बर्बाद हो जायेंगे। दूसरे सरकार को नये साधन खड़े करने के लिये व्यर्थ ही लाखों रुपया खर्च करना होगा। इसकी अपेक्षा तो शेयर होल्डरों (हिस्सेदारों) की क्षतिपूर्ति करके विद्यमान रेलों को अपने हाथ में लेना सरकार के लिये अधिक बुद्धिमानी का काम होगा।

प्रतिस्पर्धात्मक उपायों के विरुद्ध एक आपत्ति और है। यदि सरकार निजी उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्धा करने लगे तो उसे निजी उद्योगों को भी प्रतिस्पर्धा करने की स्वतंत्रता देनी होगी। किन्तु यदि राष्ट्रीयकरण का पूरा लाभ उठाना हो तो यह व्यावहारिक न होगा। आज डाक का महकमा हमारे लिये जो काम करता है, वह कोई भी मुनाफ़ाखोर व्यक्ति नहीं कर सकता। यह इसीलिए सम्भव है कि निजी व्यक्तियों को महकमा डाक का कोई काम हथियाने की स्वतंत्रता नहीं है। बैंकों का राष्ट्रीय-करण भी तभी सफल होगा, जब निजी मुनाफ़ाख़ोरों को प्रतिस्पर्धा करने की अनुमति न होगी।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सारी राष्ट्रीय-प्रवृत्तियों पर राष्ट्र का एकाधिकार रहेगा। बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो जाने के बाद तो निजी प्रवृत्तियों के लिए बहुत सुविधायें हो जावेंगी। किन्तु लोक-सेवा के बड़े-बड़े साधनों को सर्वव्यापी बनाना होगा; उन पर जितना खर्च पड़ेगा, उसकी तुलना में एक स्थान पर अधिक और दूसरे स्थान पर कम मूल्य लेना पड़ेगा, अतः व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा से उनकी रक्षा भी करनी पड़ेगी। साथ ही किसी उद्योग या सेवा-साधन का राष्ट्रीयकरण करते समय यह याद रखना चाहिए कि ज़मीन ख़रीद कर राष्ट्र की सम्पत्ति बना ली जाय। क्योंकि यदि ज़मीन केवल किराये पर ली जायगी तो राष्ट्रीयकरण का आर्थिक लाभ ज़मीन के मालिक को दे देना पड़ेगा।

प्रतिस्पर्धा द्वारा निजी उद्योगों को खत्म करने का एक निष्ठुर परिणाम यह होता है कि उन उद्योगों में काम करने वाले लोग धीरे-धीरे कंगाल और नष्ट हो जाते हैं। पूँजीवादी तो, दूसरे चाहे मरें या जीयें, अपना ही स्वार्थ देखता है। किन्तु राष्ट्र को तो हानि उठाने वाले और लाभ उठाने वाले दोनों वर्गों का विचार करना चाहिए। उसे किसी को भी दरिद्र न बनाना चाहिए।

हमने राष्ट्रीयकरण का सिद्धान्त समझ लिया और यह भी देख लिया कि वह सर्वथा युक्ति-संगत है। किन्तु उसको व्यावहारिक रूप देने के लिए यह घोषणा कर देना ही काफी न होगा कि अमुक-अमुक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। किसी उद्योग या सेवा-साधन को वास्तव में राष्ट्र के हाथ में लेने के पहले हमको राज-कर्मचारियों के एक नये विभाग की रचना करनी पड़ेगी। जिस प्रकार आज सेना, पुलिस, खज़ाना, डाक आदि को सम्हालने के लिए अलग-अलग महकमे क़ायम हैं, उसी प्रकार बैंकों, खानों, रेलों आदि को सम्हालने और चलाने के लिए नये महकमे क़ायम करने पड़ेंगे और उनमें योग्य कर्मचारियों को नियुक्त करना पड़ेगा। इस प्रकार के महकमे स्थायी और अत्यन्त संगठित सरकारों द्वारा ही स्थापित हो सकते हैं। क्रांतियों, तानाशाही सरकारों अथवा उन सरकारों द्वारा, जहाँ कर्मचारी स्थायी नहीं होते, यह काम नहीं हो सकता। क्रांति से तो इतना हो सकता है कि राष्ट्रीयकरण-विरोधी वर्ग की राजनीतिक सत्ता नष्ट हो जाय। इसके विपरीत यह भी सम्भव है कि क्रांति के बाद जो सरकार स्थापित हो, वह वर्तमान राष्ट्रीय उद्योगों को भी न चला सके और उनको निजी व्यवसायियों के हाथों में सौंप देने के लिए विवश हो जाय।

राष्ट्रीयकरण कैसे होगा?

राष्ट्रीयकरण-पक्षपाती सरकार को रुपये-पैसे के बारे में ईमानदार और राष्ट्रीयकरण को सफल बनाने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ होना चाहिए। वह राष्ट्रीयकरण को सामान्य आमदनी बढ़ाने का ज़रिया भी न बनावे और न कुप्रबन्ध द्वारा उद्योग को बदनाम और नष्ट-भ्रष्ट करे। कभी-कभी

राजकीय कुप्रबन्ध के उदाहरण भी सामने आते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटिश भारत की निजी कम्पनियों द्वारा संचालित रेलों से रियासती रेलों की तुलना की जा सकती है। रियासती रेलों की दशा सचमुच बड़ी शोचनीय प्रतीत होती है। इसलिए लोग निजी प्रबन्ध की तारीफ़ करते सुने जाते हैं। किन्तु निजी उद्योगों की क्या दुर्दशा नहीं होती? अन्तर सिर्फ़ यही होता है कि उनकी जिम्मेदारी कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित होती है, इसलिए उस ओर लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है। इसके विपरीत राजकीय कुप्रबन्ध आन्दोलनों और क्रान्तियों को जन्म देता है। अतः यह जरूरी है निजी उद्योगों की तरह राष्ट्रीय उद्योगों में भी पूर्ण ईमानदारी और सचाई से काम लिया जाय। उदाहरण के लिये यदि महकमा डाक से मुनाफ़ा होता है तो उसका उपयोग कार्ड-लिफ़ाफ़ों की दर घटाने में किया जाना चाहिए, ताकि सर्व-साधारण को लाभ पहुँचे। किन्तु हम देखते हैं कि ऐसा नहीं होता। इसकी वजह यह है कि देश का भला-बुरा करना लोक-प्रतिनिधियों के हाथ में नहीं है।

क्षतिपूर्ति का विरोध

हमारे बीच में ऐसे लोग भी हैं जो क्षतिपूर्ति का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि यदि सम्पत्ति का मालिक चोर ही है तो उसे बुराई से विमुख करने और भलाई की शिक्षा देने के लिए क्षतिपूर्ति की क्या आवश्यकता? यदि करों द्वारा हम समस्त पूंजीपति वर्ग से कोयले की खानें खरीदने का खर्च ले सकते हैं और इस प्रकार उस सीमातक उनकी सम्पत्ति को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना सकते हैं तो उनकी शेष सम्पत्ति को राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाने के लिए ही राष्ट्रीय सम्पत्ति क्यों नहीं बना सकते? सम्मिलित पूँजी पर चलने वाली कम्पनियाँ हिस्सेदारों के बदल जाने पर भी उतनी ही अच्छी तरह चलती रहती हैं। यही हाल रेलों, बैंकों आदि का भी होगा। सरकार के अधिकार में चले जाने के बाद भी वे पूर्ववत् चलते रहेंगे। तब पूंजी पर एकदम इतना कर क्यों न लगा दिया जाय कि पूँजीपतियों को अपने शेयर सर्टिफ़िकेट आदि समस्त साम्पत्तिक अधिकार-पत्र सरकार को देने के लिए विवश हो जाना पड़े? इस प्रकार

ज़मीन, खानों, रेलों और अन्य सब उद्योगों का, जो इस समय पूँजीपतियों की सम्पत्ति है, बिना क्षतिपूर्ति किये राष्ट्रीयकरण हो सकता है।

किन्तु इसका यह परिणाम होगा कि पूँजीपति कंगाल हो जायेंगे और अपने बहुसंख्यक आश्रितों को कोई काम न दे सकेंगे। यह दूसरा सवाल है कि पूँजीपति जो काम देते हैं वह निरुपयोगी काम है। किन्तु उस काम के बदले जो रुपया मिलता है, उससे जीवन-निर्वाह करने में कोई बाधा पैदा नहीं होती।

धनिकों के आश्रितों का विद्रोह

अतः पूँजीपतियों के निर्धन होजाने पर उनके आश्रितों यानी नौकर-चाकरों के लिए हमारे पास उत्पादक काम न हो तो उन्हें भूखों मरना होगा या चोरी और विद्रोह करना होगा। यदि उनकी संख्या अधिक हुई तो वे सरकार को उखाड़ कर फेंक दे सकते हैं, और वास्तव में उनकी संख्या कम नहीं है। उनके बल पर ही आज कई पैसेवाले म्यूनिसिपैलिटियों और धारा-सभाओं के लिए चुने जाते हैं। यदि वे उनका समर्थन करते हैं तो यह स्वाभाविक है, क्योंकि श्रमजीवियों की लूट का कुछ हिस्सा अपने मालिकों द्वारा उन्हें भी मिल जाता है।

इसके अलावा खानों, रेलों और बैंकों को जब ज़ब्त किया जायगा तो उनके शेयरों से जो आमदनी हिस्सेदारों को होती थी वह सरकार को होने लगेगी। दूसरे शब्दों में हिस्सेदारों की क्रयशक्ति सरकार के हाथ में चली जायगी। नतीजा यह होगा कि हिस्सेदारों की क्रयशक्ति पर निर्भर हर दुकान और कारखाने को बन्द करना पड़ेगा और उनमें काम करने वाले सब कर्मचारियों को छुट्टी दे देनी पड़ेगी। हिस्सेदारों की संचय करने की शक्ति का अर्थ है नये उद्योग जारी करने और पुराने उद्योगों के विस्तार के लिए आवश्यक पूँजी देने की शक्ति। यह शक्ति भी सरकार के हाथ में चली जायगी। इस प्रकार जो प्रचुर धन-राशि सरकार के पास जमा होगी, उसका वह क्या करेगी? यदि वह उसको केवल तहखानों में डाल कर बैठ जाय तो उसका अधिकांश भाग नष्ट हो जायगा और साथ ही काम

न मिलने के कारण बहुत से लोग भी नष्ट हो जायेंगे। सरकार के सामने महान् संकट पैदा हो जायगा। उस दशा में यदि सरकार अपने-आपको तानाशाही सरकार घोषित कर दे और एक-तिहाई जनता से दूसरी तिहाई जनता पर गोली चलवावे और शेष तिहाई जनता अपने श्रम द्वारा इस संहार का खर्च चलावे तो शायद वह बच सकती है; अन्यथा इसके सिवा वह क्या कर सकती है कि अपहरित सम्पत्ति उसके मालिकों को क्षमा-याचना के साथ लौटा दे?

सरकार बेकार-वृत्तियों के रूप में रुपया बाँट सकती है। किन्तु इस से बैठे-ठाले जीवन-निर्वाह करने की बुराई का ही विस्तार होगा, जिसको नष्ट करना ज़ब्ती का उद्देश्य था। इससे तो यह अधिक युक्ति-संगत होगा कि सब रुपया जब्तशुदा बैंकों में डाल दिया जाय और अभूतपूर्व सस्ते भावों पर कारखानेदारों को उधार दिया जाय, ताकि नये उद्योग जारी किये जा सकें और पुरानों का विस्तार हो सके। एक उपाय

संचित धन का उपयोग

यह हो सकता है कि ज़ब्तशुदा उद्योगों में मज़दूरियाँ बढ़ा दी जाँय जिससे श्रमिकों की क्रयशक्ति बढ़ जाय और धनिकों के अवसर-प्राप्त आश्रितों को काम मिल सके। दूसरा सनसनीदार उपाय, जो किसी भी तरह असम्भव नहीं, यह है कि युद्ध छेड़ दिया जाय और जो धन पहले धनिकों पर खराब किया जाता था, वह सैनिकों पर खराब किया जाय। ये उपाय एक-दूसरे का बहिष्कार नहीं करते, उन पर एकसाथ अमल किया जा सकता है। उनसे संकट तो पैदा होगा, किन्तु उससे क्या? पूंजीवाद ने काफी बार क्रयशक्ति को एक से दूसरे हाथों में बदला है, बहुसंख्यक नागरिकों को बेकार बनाया है। जब हमने हमेशा गोलमाल किया है तो अब भी क्यों न करें? हम कर सकते हैं। किन्तु जब सरकार न केवल पदभ्रष्ट पूँजीपतियों को, बल्कि उनके लिये विलास-सामग्री बनानें वाले बहुसंख्यक श्रम-जीवियों को तत्काल उत्पादक काम देने की तैयारी किये बिना ही सारे सम्पत्तिवान वर्ग की कुल सम्पत्ति ज़ब्त करेगी तो उसके फलस्वरूप जो भयंकर विस्फोट होगा, उसकी

मिसाल पूँजीवाद के इतिहास में न मिलेगी।

जिस प्रकार जीवन के लिए रक्त का प्रवाहशील होना आवश्यक होता है, उसी प्रकार सभ्य देश के लिए यह आवश्यक है कि रुपया एक से दूसरे हाथों में जाता रहे। किन्तु निजी सम्पत्ति की आम ज़ब्ती के कारण राष्ट्रीय कोष में रुपया अत्यधिक मात्रा में इकट्ठा हो जायगा और उसे देश के विभिन्न हिस्सों में वापस भेजने का प्रश्न सरकार के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बन जायगा। इस रुपये का एक बड़ा हिस्सा शहरों और क़स्बों की ज़ब्तशुदा भूमि के किरायों से आवेगा। वर्तमान मालिक इन किरायों को जहाँ इच्छा होती है, वहाँ ख़र्च करते हैं; वे उन स्थानों में क्वचित ही ख़र्च करते हैं जहाँ के अधिवासियों के श्रम से कि वे किराये पैदा होते हैं। अतः क़स्बों में रहने वालों को आजकल काफ़ी मात्रा में म्यूनिसिपल कर देने पड़ते हैं जो उनके लिए बहुत कष्टदायक और भारी पड़ते हैं। यदि ये कर राज्य-कोष से बड़ी-बड़ी रक़मों के रूप में दिये जाँय तो करदाता इसका स्वागत ही करेंगे। इस उपाय द्वारा राज्य-कोष को रुपये की गर्दी से छुटकारा मिल सकता है।

इसके अलावा सड़कों पर, समुद्र के भीतर से ज़मीन निकालने पर जंगल बनाने पर, जल-प्रपातों पर बड़े-बड़े बाँध बाँधने पर, तंग और गन्दे मकान वाले क़स्बों को गिराने पर, और उनके स्थान पर सुव्यवस्थित, स्वास्थ्यकर और सुन्दर बाग़-बग़ीचों वाले शहर बसाने पर और इसी तरह की अन्य सैकड़ों बातों पर रुपया ख़र्च किया जा सकता है। पूँजीवाद इन बातों की स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता, क्योंकि उनसे मुनाफ़ा नहीं कमाया जा सकता। किन्तु ये ऐसे काम हैं कि जिन पर काम करने योग्य सब बेकारों को लगाया जा सकेगा।

यह सब बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है, किन्तु कुछ ही क्षण के विचार से पता चलता है कि यह जितना सुन्दर है उतना आसान नहीं है। नगरों को आर्थिक सहायता देने के लिए बड़ी-बड़ी योजनायें बनानी होंगी और उन पर धारा-सभाओं को महीनों वाद-विवाद करना होगा। पूंजी सस्ती और प्रचुर मात्रा में मिलने का यह अर्थ होगा कि प्रतिस्पर्धात्मक उद्योगों

की बाढ़ आजायगी, पैदावार आवश्यकता से अधिक होने लगेगी और अनुभवहीन लोग निकम्मे उद्योग खोल बैठेंगे। संक्षेप में तेज़ी के बाद मन्दी आयगी और उसके साथ हमेशा की बेकारी, दिवालियेपन आदि का दौर आवेगा। अतः रुपये पर नियंत्रण रखने के लिए यह आवश्यक होगा कि राज्य-कोष का नया विभाग क़ायम किया जाय, नये बैंक खोले जायँ और उनमें शिक्षित कर्मचारियों को नियुक्त किया जाय। इसी प्रकार अन्य उद्योगों में पुराने प्रबन्धकों के स्थान पर नये कर्मचारी नियुक्त करना होगा, क्योंकि पुराने प्रबन्धक अपने-आप को नई व्यवस्था के अनुकूल मुश्किल ही से बना सकेंगे। इसी प्रकार सड़कें बनाने, शहर बसाने जैसे सार्वजनिक निर्माण-कार्य मनमाने तौर पर जारी नहीं किये जा सकते। इन सब बातों के लिए काफ़ी विचार और व्यावहारिक तैयारी की ज़रूरत होगी। बिना निश्चित योजना के कुछ नहीं हो सकेगा और योजना बनाने के लिए समय चाहिए। उसके पहले ही सम्पत्ति की आम ज़ब्ती के कारण जो लोग बेकार होंगे, वे मर मिटेंगे।

उचित मार्ग

अतः बिना क्षति-पूर्ति किये सामूहिक राष्ट्रीयकरण अनर्थकारी सिद्ध होगा, चिकित्सा का अनर्थ होने के पहले ही रोगी ख़त्म हो जायगा। क्रांति हो जायगी। कहा जा सकता है कि क्रांति तो स्वागत करने की वस्तु है। किन्तु क्रान्तियों से किसी चीज़ का राष्ट्रीयकरण नहीं हो जाता, बल्कि वह बहुधा मुश्किल ही बनता है। यदि पूँजीपतियों के कोलाहल-पूर्ण और अदम्य विरोध के मुक़ाबिले में अकुशल समाजवादियों द्वारा क्रान्ति हो जाय तो प्रगति के स्थान पर प्रतिक्रिया होगी और पूँजीवाद को नया जीवन मिल जायगा। इसलिए उचित यही है कि सावधानी-पूर्वक योजना बना कर क्षति-पूर्ति के साथ एक के बाद एक उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो। यहाँ हमें यह न भूलना चाहिए कि राष्ट्रीयकरण के लिए योग्य होने के पहले उद्योग एक-दूसरे के साथ इतने मिले रहते हैं कि परस्पर मिश्रित आधे दर्जन अन्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किये बिना एक उद्योग का राष्ट्रीयकरण प्रायः असम्भव होता है।

इसके अलावा सम्भव है बड़े-बड़े उद्योगों और थोक-व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण करते समय हमें बहुत सारे निजी फुटकर व्यवसायियों को मामूली विभाजन का काम करने के लिए खुला छोड़ देना पड़े। अवश्य ही उनको निर्दिष्ट से अधिक क़ीमतें वसूल नहीं करने दी जायँगी, किन्तु पूँजीपतियों और भूस्वामियों की अपेक्षा हम उनको आजीविका के अच्छे साधन सुलभ करेंगे और दिवालियेपन के डर से मुक्त कर देंगे। ग्रामीण लुहारी व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करने और ग्रामीण लुहार को सार्वजनिक कर्मचारी बनाने के पहले हम रेलों और कोयले की खानों का राष्ट्रीयकरण करेंगे। कलाकारों, कारीगरों और वैज्ञानिकों को छेड़ने से पहले हम घर-घर बिजली की रोशनी पहुँचाने का प्रबन्ध करेंगे। हम ज़मीन और बड़े पैमाने पर होने वाली खेती का राष्ट्रीयकरण करेंगे, किन्तु शौक के लिए की जाने वाली फलों की खेती और घरेलू शाक-भाजी के बग़ीचों पर हाथ न डालेंगे।

सरकारी सहायता प्राप्त निजी उद्योग

बैंकों के राष्ट्रीयकरण से यह आसान हो जायगा कि निजी उद्योग उसी हद्तक चलने दिये जायँ जिस हद्तक उनको चलने देना सुविधाजनक हो। यदि निजी उद्योगों में अधिक आमदनी होने लगे तो कर लगा कर उसे सामान्य सीमा तक घटाया जा सकता है। किन्तु सम्भावना यही है कि निजी उद्योगों में काम करने वालों को सरकारी नौकरों की अपेक्षा कम आमदनी होगी। कारण, समाजवाद के अधीन श्रमजीवियों की लूट सम्भव न होगी। उस दशा में निजी उद्योग अपने कर्मचारियों की आमदनी राष्ट्रीय सतह के बराबर रखने के लिए सरकार से सहायता की माँग कर सकते हैं। सरकार उन्हें सहायता दे भी सकती है। उदाहरण के लिए किसी दूरवर्ती गांव या घाटी के लिए, जहां इतना आवागमन न होता हो कि आवागमन के साधन का खर्च चल सके, सरकार अथवा म्यूनिसिपैलिटी किसी स्थानीय किसान, दुकानदार या होटल वाले को मोटर-लारी चलाने के खर्च का एक हिस्सा दे सकती है।

आजकल पूँजीपति सरकारें भी निजी उद्योगों को आर्थिक मदद देती

हैं। इंग्लैण्ड की सरकार ने कुछ वर्षों पहले कोयले की खानों के मालिकों को एक करोड़ पौण्ड की सहायता दी थी। जब निजी उद्योगों में काफ़ी मुनाफ़ा नहीं होता, तब उन्हें आर्थिक सहायता देने की समाजवादी पद्धति ख़ुद पूंजीपतियों ने ही स्थापित की है। पूंजीपति अब निजी उद्योग जारी करने के लिए खुले तौर पर सरकार से आर्थिक सहायता की मांग करने लगे हैं जैसा कि वायुयान कम्पनियों के उदाहरण से स्पष्ट है। किन्तु पूंजीवाद के अधीन इसका यह परिणाम हो रहा है कि नये उद्योग जारी करने की सारी जोखिम राष्ट्र के सिर पर थोप दी जाती है; पूँजीपति सारा मुनाफ़ा स्वयं हड़प कर जाते हैं और क़ीमतें यथासाध्य ऊंची-से-ऊंची रखते हैं। इसके विपरीत होना यह चाहिए कि जब निजी उद्योगों को सहायता दी जाय, तो उनमें कर-दाताओं अर्थात् राष्ट्र का हित भी स्थापित किया जाय। बिना किसी शर्त के निजी व्यवसायियों को आर्थिक सहायता देना राज्यकोष की लूट और करदाताओं की बर्बादी के अलावा कुछ नहीं है।

कुछ समाजवादियों को इस बात पर आश्चर्य हो सकता है कि समाजवादी सरकार निजी उद्योगों को न केवल रहने ही देगी, बल्कि सहायता भी देगी। किन्तु समाजवादी सरकार का काम निजी उद्योग-मात्र को दबाना नहीं है, बल्कि आय की समानता लाना और उसको क़ायम रखना है। निजी उद्योगों के बजाय सार्वजनिक उद्योगों की स्थापना उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई साधनों में से केवल एक साधन है। अतः किसी विशेष उदाहरण में यदि निजी उद्योग द्वारा वह उद्देश्य अधिक पूरा किया जा सके तो समाजवादी सरकार निजी उद्योग को क़ायम रहने देगी और आर्थिक सहायता भी दे सकती है। किन्तु जब कोई निजी व्यावसायिक प्रयोग, जिसको सरकार ने आर्थिक सहायता दी हो, किसी नये उद्योग या आविष्कार को स्थापित करने में सफल हो जायगा, तो वह राष्ट्र के अधिकार में ले लिया जायगा और निजी व्यक्तियों को आज की तरह उन उद्योगों में, जो प्रयोगावस्था से आगे निकल चुके होते हैं, मुनाफ़ा कमाने देने के बजाय नये प्रयोगों में अपना कौशल आजमाने के लिए खुला छोड़ दिया जायगा। उदाहरण के लिए रेलों के

उद्योग के बारे में सारी बातें मालूम हो चुकी हैं, अतः उसका राष्ट्रीयकरण आवश्यक हो गया है, किन्तु वायुयान-उद्योग अभी प्रयोगावस्था में है, अतः जबतक रेल-उद्योग की भांति वह सुस्थापित नहीं हो जाता, उसे राज्य-सहायता-प्राप्त निजी उद्योग माना जा सकता है।

इंग्लैण्ड में पूंजीपतियों की सम्पत्ति का काफ़ी मात्रा में अपहरण हुआ है। जब पार्लमेण्ट में भूस्वामियों, पूंजीपतियों और कारखानेदारों का बहुमत था, उस समय श्रमजीवी-वर्गों पर अधिक-से-अधिक करों का बोझा डालने की कोशिश की जाती थी और पूँजीपतियों से कर उसी समय वसूल किया जाता था, जब आय का और कोई ज़रिया नहीं रह जाता था। उस समय आयकर जो केवल पूँजीपतियों को ही देना पड़ता है, प्रति पौंड छः पेन्स से घटा कर दो पेन्स कर दिया गया था। किन्तु जब पार्लमेण्ट में मज़दूर दल का ज़ोर बढ़ा तो उसने यह कोशिश की कि पूंजीपतियों से श्रमजीवियों की अपेक्षा अधिक कर वसूल किये जायें। अब स्थिति यह है कि आयकर, अतिरिक्त आयकर, मृत्युकर आदि करों द्वारा प्रति वर्ष करोड़ों रुपया पूंजीपतियों से छीन लिया जाता है। मज़ा यह है कि जो ब्रिटिश अनुदार सरकार साम्यवाद की निन्दा करती है, सम्पत्ति के समाजवादी अपहरण को डकैती घोषित करती है, वही सबसे अधिक उसका अनुसरण करती है। इससे बचने के लिए बेचारे इंग्लैण्ड के पूँजीपति वर्ष में सात महीने दक्षिणी फ्रांस में जाकर रहने लगे हैं।

इंग्लैण्ड का उदाहरण

यद्यपि बड़े-बूढ़ों के मतानुसार धनिकों से जो प्रति वर्ष रक़म ली जाती है, वह विस्मयोत्पादक है, किन्तु धनिक जितना दे सकते हैं या सरकार जितना ख़र्च कर सकती है उससे अधिक नहीं है। इसका नतीजा यह हुआ है कि क्रयशक्ति धनिकों से ग़रीबों के हाथों में चली गई है और बहुत से पुराने धनी निर्धन हो गये हैं। किन्तु साथ ही पूँजीवाद का इतना विकास हुआ है कि पहले की अपेक्षा धनिकों की संख्या बढ़ गई है और धनी अधिक धनी हो गये हैं, फलतः विलास की चीज़ों के व्यवसायों का विस्तार हुआ है और श्रमिकों को अधिक काम मिला है।

इससे सिद्ध हुआ कि सम्पत्ति से होने वाली आय को निश्चित होकर ज़ब्त किया जा सकता है, बशर्ते कि उसका तत्काल पुनर्विभाजन किया जा सके। राष्ट्रीयकरण के लिए यह आवश्यक है कि मालिकों की क्षति-पूर्ति की जाय और उद्योगों के संचालन की पूर्व तैयारी हो। किन्तु जब उद्देश्य राष्ट्रीयकरण न हो, बल्कि क्रय-शक्ति एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी के लोगों के अर्थात् आमतौर पर धनिकों से ग़रीबों के हाथ में देकर पूंजीवादी प्रणाली के भीतर ही आय को पुनर्विभाजित करने का इरादा हो तो परिवर्तन की रफ्तार इतनी तेज़ न होनी चाहिए कि जिसे पूँजीवादी व्यापारी अपना न सकें अन्यथा उनमें से बहुतों का दिवाला निकल जायगा।

गत महायुद्ध में जन-धन का भीषण संहार हुआ। देश के नवयुवकों को उनकी इच्छा-अनिच्छा की परवाह न करते हुए सेना में काम करने के लिये विवश किया गया, किन्तु पूँजीपति सरकार होने के कारण पूँजीपतियों को रुपया देने के लिए विवश नहीं किया गया। पूँजीपतियों से जो रुपया लिया गया, वह पाँच सैकड़ा वार्षिक व्याज पर उधार लिया गया। गत महायुद्ध के पहले इंग्लैण्ड का राष्ट्रीय ऋण ६६ करोड़ था, वह युद्ध के बाद ७ अरब हो गया। इंग्लैण्ड इस ऋण पर पैंतीस करोड़ से अधिक प्रति वर्ष सूद अदा करता है। यह रुपया कहां से आता है? सम्पत्ति के मालिकों से आयकर, अतिरिक्त आयकर और मृत्युकरों के रूप में ३८ करोड़ वार्षिक वसूल किया जाता है, उसी में से यह चुकाया जाता है। इस प्रकार इंग्लैण्ड की सरकार इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों को एक हाथ से ३२ करोड़ पचास लाख सूद देती है और ३८ करोड़ २० लाख करों द्वारा दूसरे हाथ से वसूल कर लेती है। पूँजीपतियों को अपनी सम्पत्ति का यह खुला अपहरण क्यों नहीं अखरता? बात यह है कि युद्ध-ऋण सभी पूँजीपतियों ने नहीं दिया, किन्तु कर सभी पूंजीपतियों को देने पड़ते हैं। इसलिए यद्यपि सामूहिक रूप में पूँजीपति घाटे में रहते हैं, किन्तु युद्ध-ऋण देने वाले न देने वाले पूँजीपतियों के बलिदान

युद्ध-ऋण की हक़ीक़त

पर लाभ उठाते हैं। इस विचित्र स्थिति को देखते हुए मज़दूर दल इस कारण यह कह सकता है कि राष्ट्रीय ऋण को मंसूख कर दिया जाय, जिससे राष्ट्र को यह शिकायत न करनी पड़े कि वह अपने ही ऋण के असह्य भार के नीचे लड़खड़ा रहा है और कुल मिला कर पूँजीपतियों को भी लाभ हो। इस प्रकार ऋण को मंसूख करने का यह अर्थ होगा कि समस्त राष्ट्र की दृष्टि से बिना एक पैसा ख़र्च किये नागरिकों के एक वर्ग में आय का पुनर्विभाजन हो जायगा।

सरकार को जो रुपया उधार दिया जाता है, वह जबतक चुका नहीं दिया जाता, तबतक ऋणदाता को बिना कुछ किये निश्चित आय होती रहती है। इसलिए यह विचित्र दृश्य देखने को मिलता है कि ऋणदाता अपना रुपया वापस पाने को उत्सुक नहीं होते। सरकार को ऋण प्राप्त करने के लिए यह वादा करना पड़ता है कि इतने वर्ष पहले ऋण अदा न किया जायगा। पूँजीवादी नैतिकता के अनुसार जो लोग सूद के बजाय पूँजी पर निर्वाह करते हैं वे अपव्ययी समझे जाते हैं। अतः पूँजीपति हमेशा इस बात का ख़याल रखते हैं कि उनकी पूँजी कहीं-न-कहीं लगी रहे और उससे होने वाली आय बन्द न हो। किन्तु जो पूँजी किसी उद्योग में लगाई जाती है, उसे तो उस उद्योग में काम करने वाले श्रमिक खा जाते हैं और जब पूँजी एक बार खा ली गई तो फिर कोई मानवी शक्ति उसको अस्तित्व में नहीं ला सकती।

गत महायुद्ध में इंग्लैण्ड का जो रुपया ख़र्च हुआ, वह उत्पादक कार्य में नहीं, बल्कि संहारक कार्य में ख़र्च हुआ। यद्यपि वह रुपया कभी का हवा में उड़ चुका, फिर भी कहा यह जाता है कि इंग्लैण्ड के चन्द पूँजीपति ७ अरब के मालिक हैं। एक ओर कहा जाता है कि देश की सम्पत्ति में ७ अरब की वृद्धि हुई और दूसरी ओर ३५ करोड़ हर साल उन लोगों को दे दिए जाते हैं जो रत्ती भर काम नहीं करते और देश को दरिद्र बनाते हैं। यदि यह ऋण चुकाने से इन्कार कर दिया जाय तो ३५ करोड़ सालाना बच जाय और निठल्ले पूँजीपति अपने निर्वाह के लिए परिश्रम करना शुरू कर दें। इसके विरुद्ध आपत्ति है तो

यही कि ऐसा करना वचन-भंग करना होगा, जिसके फलस्वरूप इंग्लैण्ड की सरकार को आगे कोई क़र्ज़ देने को तैयार न होगा।

कहने का आशय यह है कि युद्ध में जो प्रचुर व्यय हुआ, उससे सम्पत्ति के साधनों में वृद्धि होने के बजाय उनका सर्वनाश ही हुआ है और पहले की अपेक्षा विभाजन के लिए आय कम रह गई है। युद्ध ने तीन साम्राज्यों को उखाड़ फेंका और यूरोप में एकतंत्री के स्थान पर प्रजातन्त्री शासन-व्यवस्था स्थापित कर दी। इस राजनीतिक परिणाम को कोई पसन्द या नापसन्द कर सकता है, किन्तु युद्ध का आर्थिक बोझ तो राष्ट्रों पर ज्यों-का-त्यों पडता रहेगा। अवश्य ही युद्ध-ऋण की मौजूदा व्यवस्था से पूंजीपतियों में आय का पुनर्विभाजन होता है, किन्तु उससे न तो आय की समानता स्थापित हो सकती है, न आलस्य का खात्मा। हाँ, इस उदाहरण से यह साबित हो जाता है कि यदि सरकार बहुसंख्यक श्रमजीवियों को काम में लगा सके, चाहे वह संहारक काम ही क्यों न हो, तो पूंजीपतियों की करोड़ों की पूंजी का अपहरण किया जा सकता है।

ऋण-विमोचन का उपाय

यदि सरकार ऋण अदा करने से इन्कार करदे तो उसकी साख नष्ट हो जायगी। किन्तु यही ऋण पूंजी पर कर लगा कर उड़ाया जा सकता है। वह इस तरह कि सरकार सौ रुपये की पूँजी पर सौ रुपया कर लगा दे। यह सम्पत्ति का विशुद्ध अपहरण होगा। यदि एकसाथ ऐसा करने से गड़बड़ होने की सम्भावना हो तो सौ प्रतिशत के बजाय कर पचास, दस अथवा पांच प्रतिशत के हिसाब से और हर दस वर्ष में एक बार लगाया जा सकता है। इस तरह इंग्लैण्ड की सरकार उन करों को हटा सकती है, जिन्हें वह युद्ध-ऋण का सूद चुकाने के लिए लेती है। यदि वह अनुदार दल की अर्थात् पूँजीपति सरकार हुई तो वह पूंजीपतियों के कर कम कर देगी और मज़दूर सरकार हुई तो उस रुपये को श्रमजीवियों की भलाई में खर्च करेगी। इस उपाय द्वारा जहाँ एक ओर धनिकों को और धनी बनाया जा सकता

हैं, वहाँ दूसरी ओर आम लोगों के सुख में भी वृद्धि की जा सकती है।

किन्तु यदि लोगों को यह मालूम होजाय कि सरकार इस प्रकार के करों द्वारा उनकी सम्पत्ति को कभी भी जब्त कर सकती है तो उनकी निश्चितता की भावना नष्ट हो जायगी। वे रुपया इकट्ठा करना बन्द कर देंगे और अन्धाधुन्ध खर्च करेंगे। जब प्लेग का ज़ोर होता है तो लोगों को अपने जीवन के बारे में कोई स्थिरता मालूम देती, अतः वे एक दिन के मौज-मज़े के लिए चरित्र की कोई चिन्ता नहीं करते। इसी प्रकार नियमित वार्षिक आयकर के अलावा सम्पत्ति पर लगाये जाने वाले अन्य प्रत्यक्ष कर आर्थिक प्लेग के द्योतक हैं। वे व्यावहारिक भले ही मालूम पड़ें, किन्तु हैं अविवेकपूर्ण !

अबतक के विवेचन में हमने जान लिया कि समाजवाद का उद्देश्य समाज में आय की समानता क़ायम करना है। इन उद्देश्यों को सफल बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो।

अन्तिम निष्कर्ष

हमने देखा कि उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का सबसे निरापद तरीक़ा यह है कि सब पूँजीपतियों पर आयकर लगाकर मालिकों की क्षतिपूर्ति की जाय। साथ ही हमने यह भी मालूम किया कि उद्योगों से पैदा होने वाली आय को सरकार किस प्रकार बांट सकती है। अब समाजवाद का सारा कार्यक्रम हमारे सामने है। उसकी व्यावहारिकता के बारे में सन्देह की कोई गुँजाइश नहीं है, क्योंकि आंशिक रूप में वह कई जगह अमल में आ रहा है। उसमें आश्चर्य की बात है तो यही कि उसमें कोई विचित्रता नहीं है। किन्तु एक सवाल बाकी रह जाता है, वह यह कि आय के विभाजन का काम सरकार के हाथ में चले जाने के बाद यदि सरकार चाहे तो आय का असमान बंटवारा कर सकती है और वर्तमान असमानता को कम करने के बजाय और बढ़ा सकती है। जॉन बनियन ने, जो एक प्रसिद्ध तत्वचिंतक हुए हैं, कहा है कि स्वर्ग के द्वारों से भी नरक को जाने का रास्ता है और इसलिए स्वर्ग का रास्ता नरक का रास्ता भी है। उस रास्ते जो आदमी नरक को जाता है उसका नाम है अज्ञान।

अतः यदि हम अज्ञानी बन कर समाजवाद के रास्ते पर चलेंगे तो राज्य-पूँजीवाद (State Capitalism) के समुद्र में ग़र्क हो जावेंगे। अवश्य ही राज्य-पूँजीवाद पूँजीवादी एकतंत्र (फ़ासिज़्म) द्वारा वर्तमान काल की कुछ भयंकर बुराइयों को नष्ट करके जनता को अपने पक्ष में करने की कोशिश करेगा, मज़दूरियाँ बढ़ावेगा, मृत्यु-औसत घटावेगा, योग्य स्त्री-पुरुषों के विकास का मार्ग खोलेगा, अव्यवस्था का दमन करेगा, किन्तु आर्थिक असमानता के अनर्थ के आगे उसकी कुछ न चलेगी। इसलिए यह अत्यन्त महत्व की बात है कि हम समाजवाद का बुद्धिपूर्वक अनुसरण करें और उसके उद्देश्य को अर्थात् आय के समान विभाजन को अपनी आँखों से कभी ओझल न होने दें।

: २ :

क्रान्ति बनाम वैध पद्धति

हम इस नतीजे पर पहुँच चुके हैं कि समाजवाद की स्थापना के लिए उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है और उसके द्वारा ही राष्ट्रीय आय का समान विभाजन हो सकता है। किन्तु अब सवाल यह पैदा होता है कि जबतक राज्य-सत्ता पूँजीपतियों के पास से समाजवादियों के हाथ में न आ जाय, तबतक यह कैसे सम्भव होगा। यदि देश का शासन जनतन्त्रात्मक पद्धति पर होता है तो यह मानी हुई बात है कि चुनाव में जिस दल का बहुमत होगा, उसी के हाथ में राज्य-सत्ता होगी। यह बिल्कुल सम्भव है कि धारा-सभा के किसी चुनाव में ऐसे लोगों का बहुमत हो जाय जो समाजवाद के पक्षपाती हों। इस पर यदि पूँजीपति चुप हो जाते हैं तो कोई बाधा उपस्थित न होगी; किन्तु यह हो सकता है पूँजीपति चुनाव के निर्णय को स्वीकार न करें और लड़ने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। उस दशा में सिवाय इसके और कोई उपाय नहीं रह जाता कि दोनों पक्ष खुले मैदान में अपनी-अपनी ताकत की आज़माइश करलें।

जो अधिक बलशाली होगा, अन्त में वही विजयी होगा। किन्तु यह नहीं मान लेना चाहिए कि इस संघर्ष में पूँजीपति एक तरफ़ होंगे और सब श्रमजीवी दूसरी तरफ़। यह बिल्कुल सम्भव है कि वे बहु-संख्यक जो अपनी आजीविका के लिए पूँजीपतियों पर निर्भर करते हैं, पूँजीपतियों का साथ दें। ऐसी हालत में संघर्ष और भी कड़ा और लम्बा हो सकता है।

किन्तु देश की सरकार पूँजीपतियों के पास से समाजवादियों के हाथ में कैसे भी जाय—चाहे वैध पद्धति से, चाहे भयंकर रक्तपात द्वारा—केवल इतने से ही व्यावहारिक रूप में समाजवाद की स्थापना नहीं हो जायगी। रूस का उदाहरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। उस देश में सन् १९१७ की महान् राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप मार्क्स के अनुयायी साम्यवादियों की ऐसी विजय हुई कि वे ज़ार से भी अधिक शक्तिशाली सरकार क़ायम कर सके। किन्तु रूस में ज़ार ने समाजवादी संस्थाओं को पनपने नहीं दिया था, इसलिए रूस की नई सरकार के सामने रास्ता साफ़ न था। उसने हर तरह के नौसिखिये प्रयोग किये। अन्त में उसको यह स्वीकार करना पड़ा कि किसान ज़मीन पर अधिकार रख सकते हैं और उसकी उत्पत्ति बेच सकते हैं। इसके अलावा देश के उद्योगों को भी बहुत कुछ निजी कारखानेदारों के हाथों में छोड़ देना पड़ा।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि रूस की क्रान्ति असफल हुई। रूस में अब यह बात मान ली गई है कि पूंजी मनुष्य के लिए बनाई गई थी, मनुष्य पूँजी के लिए नहीं। बालकों को पूंजीवाद की स्वार्थपरायण नीति के बजाय साम्यवाद की ईसाई नीति की शिक्षा दी जाती है। धनिकों के महल और विलास-गृह श्रमिकों के मनोरंजन के लिए काम में आते हैं। आलसी स्त्री-पुरुषों को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है और श्रमिक आदर पाते हैं। कला के भण्डार सर्व-साधारण के लिए सुलभ कर दिये गये हैं। गिरजाघर झूठ और दम्भ की शिक्षा नहीं दे सकते। यह सब इतनी अच्छी अवस्था है कि लोगों को उसकी सचाई में सन्देह हो जाता है। किन्तु यह समाजवाद नहीं है। वहाँ आय की काफी असमानता

विद्यमान है जो साम्यवादी प्रजातंत्र को फ्रांस और अमेरिका-जैसे पूंजीवादी प्रजातन्त्र में बदल दे सकती है।

यद्यपि रूसी राज्य-क्रांति के फलस्वरूप रूसी लोगों के स्वाभिमान में वृद्धि हुई है और रूसी सरकार का रुख पूँजीपति-विरोधी हो गया है, फिर भी वह उतना समाजवाद स्थापित नहीं कर सकी है जितना कि इंग्लैण्ड में मौजूद है। रूस में मज़दूरियाँ भी इंग्लैण्ड से बहुत कम मिलती हैं। इसका कारण यह है कि जिस हद तक पूँजीवाद का विस्तार हो चुकता है, उसी हद तक समाजवाद का विस्तार हो सकता है। समाजवाद का विस्तार वर्तमान आर्थिक सभ्यता के विनाश पर नहीं, विकास पर निर्भर करता है। समाजवाद पूँजीवाद से उत्तराधिकार में मिली हुई सम्पत्ति को नष्ट नहीं करना चाहता, बल्कि उसकी नये ढंग से व्यवस्था करना चाहता है और चाहता है उससे पैदा होने वाली आय को नये ढंग से बाँटना। रूस में पूँजीवाद का उस हद तक विकास नहीं हुआ था, बोल्शेविकों के पास इतने संगठित पूंजीवादी उद्योग नहीं थे, कि जिनके आधार पर वे अपनी इमारत खड़ी करते। रूसी लोगों को ठेठ नींव से शुरूआत करनी पड़ी।

इसका यह अर्थ हुआ कि यदि पूंजीपति वैध परिवर्तन को स्वीकार न करें तो उनकी सत्ता को नष्ट करने के लिए राजनैतिक क्रान्ति आवश्यक हो सकती है। किन्तु न तो हिंसात्मक क्रान्ति से और न शान्तिपूर्ण परिवर्तन से स्वयंमेव समाजवाद की रचना हो सकती है। यही कारण है कि जो समाजवादी अपने लक्ष्य को समझते हैं, वे रक्त-पात के विरुद्ध हैं। वे दूसरे लोगों की अपेक्षा कुछ नरम नहीं हैं, किन्तु वे जानते हैं कि रक्तपात से उनकी उद्देश्य-सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिए वे क्रमिक विकास में विश्वास करते हैं। यह मानी हुई बात है कि हिंसात्मक क्रांति में धन-जन का भीषण संहार होता है और समाज में बड़ा गोलमाल फैल जाता है। उसको ठीक करने के लिए अन्त में पुनः स्थायी शासन-व्यवस्था की शरण लेनी पड़ती है। क्रामवेल, नेपोलियन, मुसोलिनी, हिटलर और लेनिन-जैसे शक्तिशाली और दृढ़ शासक सामने आते हैं,

किन्तु वे या तो शीघ्र ही मर जाते हैं या अपनी शक्ति खो देते हैं। राजाओं, सेनापतियों और श्रमजीवी सत्ताधीशों को समान रूप से पता चलता है कि किसी-न-किसी प्रकार की कौंसिलों या पार्लमैण्टों के बिना अधिक काल तक वे अपना काम नहीं चला सकते। यह अनुभव से सिद्ध हो चुका है कि प्रतिनिध्यात्मक शासनतंत्र ही सब से अधिक सफल और स्थायी शासनतंत्र होता है, क्योंकि जनता के सहयोग के बिना मज़बूत-से-मज़बूत सरकार भी टूट जाया करती है। आयर्लैण्ड में अंग्रेज़ों की सरकार की यही दशा हुई थी।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँच जाते हैं कि क्रान्ति के बाद भी हम को वैध पद्धति से ही समाजवाद की ओर अग्रसर होना पड़ेगा। हमको पुनः धारा-सभाओं और बहुमत का सहारा लेना पड़ेगा। हमको क़ानून द्वारा आय की समानता स्थापित करनी होगी। किन्तु क़ानून बना देने मात्र से समस्या हल नहीं हो जायगी। उदाहरण के लिए यदि हम ऐसा क़ानून बनावें कि देश के हर बालक को काफ़ी दूध-रोटी और रहने के लिए अच्छा मकान मिलना चाहिए तो जबतक हम आवश्यक पाकशालाओं, गोशालाओं और मकानों की व्यवस्था न करलें, वह क़ानून मृत क़ानून ही रहेगा। इसी प्रकार यदि हम ऐसा क़ानून बनावें कि हर स्वस्थ बालिग़ आदमी को अपने देश के लिए नित्य आठ घण्टे काम करना चाहिए तो जबतक हमारे पास सब लोगों को देने के लिए काम न हो, तबतक हम उस क़ानून पर किस प्रकार अमल कर सकेंगे? रचनात्मक और उत्पादक योजनाओं को जारी करने के लिए बहुसंख्यक लोगों को काम पर लगाना होता है, कार्यालय स्थापित करने होते हैं, शुरूआत के लिए प्रचुर मात्रा में रुपये की व्यवस्था करनी होती है और मार्ग-प्रदर्शन के लिए विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों की सेवायें प्राप्त करनी पड़ती हैं। इन सब साधनों के बिना समाजवाद के लिए जारी की गई राजकीय घोषणाओं का रद्दी काग़ज़ के टुकड़ों से अधिक मूल्य नहीं हो सकता। हम सिविल और म्यूनिसिपल सर्विसों के विस्तार, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और निर्दिष्ट वार्षिक योजनाओं द्वारा ही आय की समानता के आदर्श

के अधिकाधिक निकट पहुँच सकेंगे।

हम इस प्रकार आदर्श के इतने नज़दीक पहुँच सकते हैं कि यदि बाद में थोड़ी बहुत असमानता बाक़ी रह भी जाय तो हम उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। इस समय जबकि एक ओर एक बालक लाखों की सम्पत्ति का स्वामी होता है और दूसरी ओर लाखों बालक अपर्याप्त आहार के मारे मर रहे हैं, आय की समानता के आदर्श के लिए आवश्यक हो तो लड़ा और मरा जा सकता है। किन्तु देश के सब बालकों का पेट भर जाता हो और उसके बाद किसी बालक के माता-पिता पांच-दस रुपया अधिक प्राप्त करलें तो यह इतनी बड़ी घटना न होगी कि जिसको रोकने के लिए हम कमर कस कर मैदान में उतर पड़ें। समस्त सामाजिक सुधारों की अपनी सीमा होती है। उन पर तार्किक सम्पूर्णता या गणित जैसी सूक्ष्मता के साथ अमल नहीं किया जा सकता। अतः यदि हम सब समान रूप से सम्पन्न हो जाते हैं और कोई भी आदमी बिना ऊंच-नीच के ख़याल के हर कहीं अपनी सन्तान के शादी-ब्याह कर सकता है तो हमको राष्ट्रीय आय के विभाजन में एकाध पैसे के अन्तर पर नहीं झगड़ना चाहिए। सार यह कि आय की समानता मूल-भूत सिद्धान्त रहना चाहिए और उसका अधिकाधिक पालन किया जाना चाहिए।

: ३ :

कितना समय लगेगा ?

अब प्रश्न यह है कि परिवर्तन में कितना समय लगेगा ? यदि बहुत समय तक परिवर्तन न हो या बहुत धीरे-धीरे हो तो हिंसात्मक क्रान्ति हो सकती है जो शेष जन-संख्या को तबाह करके भयानक समानता पैदा कर दे सकती है; किन्तु इस प्रकार पैदा हुई समानता स्थायी न होगी। जहां दृढ़ सरकार हो, क़ानूनों का विस्तृत संग्रह हो, समाज व्यवस्थित और

अत्यन्त सभ्य हो, वहीं आय की समानता स्थापित की और क़ायम रक्खी जा सकती है। जिस सरकार में संघर्षात्मक शक्तियों का ज़ोर हो, वह दृढ़ सरकार नहीं हो सकती। दृढ़ सरकार वही होती है जिसको बहु-संख्यक लोगों का नैतिक समर्थन प्राप्त हो। नीति-भ्रष्ट सरकार टिक नहीं सकती और न समाजवादी परिवर्तनों पर अमल कर सकती है। वे परिवर्तन विचारपूर्वक थोड़ी-थोड़ी मात्रा में और इतने लोक-प्रिय होने चाहिए कि दृढ़ता-पूर्वक स्थापित हो सकें।

यह दयनीय बात है कि परिवर्तन अधिक तेज़ी के साथ नहीं किया जा सकता। जब हज़रत मूसा ने मिश्र में इज़राइलवासियों को बन्धन-मुक्त किया तो वे स्वतन्त्रता के इतने अयोग्य हो गये थे कि उनको चालीस वर्ष तक रेगिस्तान में चारों ओर भटकना पड़ा जबतक कि बन्धन में रहे हुए अधिकतर लोग मर न गये। जिस स्थान पर उन लोगों को पहुँचना था, वहाँ चालीस सप्ताह में आसानी से चल कर पहुँचा जा सकता था, किन्तु गुलामी की अवस्था में वे सुरक्षित और आराम में रहे थे, इसलिए ख़तरों और कठिनाइयों का सामना करने की उनकी शक्ति नष्ट हो गई थी। यदि हम उन लोगों पर, जिनको तैयार नहीं किया गया है, एकसाथ समाजवाद लादने की कोशिश करेंगे तो हमको भी उसी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। वे समाजवाद को तोड़ डालेंगे। कारण, वे न तो उसको समझ सकेंगे और न उसकी संस्थाओं को चला सकेंगे। मार्क ट्वेन ने एक जगह कहा है कि सुधार के लिए समय गुजर चुका, ऐसा कभी नहीं होता। और जो परिवर्तन से भय खाते हैं वे इस आश्वासन पर सन्तोष मान सकते हैं कि परिवर्तन जल्दी होने की अपेक्षा देरी से होने में ज्यादा ख़तरा है। वह जितना ही धीरे आवेगा, उतना ही अधिक कष्टदायी होगा। यह अच्छा ही है कि हम में से जो लोग अपने विकास-क्रम के कारण समाजवाद के सर्वथा अयोग्य हैं, वे हमेशा जीवित नहीं रहेंगे। यदि हमारे लिए इतना ही सम्भव हो जाय कि हम अपने बच्चों को बिगाड़ना बन्द कर सकें तो हमारे राजनैतिक अन्ध-विश्वास और पक्षपात हमारे साथ ही ख़त्म हो जायँगे

और आगामी पीढ़ी जेरिको की दीवारों को धराशायी कर सकेगी।

इसके अलावा आर्थिक स्वार्थ साधुता के खिलाफ़ लोक-मत का नैतिक दबाव अपना काम करेगा ही। समाजवाद के अधीन वह राष्ट्रीय अन्तःकरण का उसी प्रकार अंग हो जायगा जिस प्रकार कि पूँजीवाद के अधीन औरों की अपेक्षा अधिक रुपया कमाना और उसके लिए कोई श्रम न करना सफल जीवन का द्योतक समझा जाता है। आज भी लोग हमेशा वही धन्धा नहीं चुनते हैं जिसमें सब से अधिक रुपया पैदा होने की सम्भावना होती है। वे अपने स्वभाव के अनुकूल काम प्राप्त करने के लिए अत्यधिक आर्थिक लाभकारी धन्धे को भी छोड़ देते हैं। किंतु जब वे अपना काम पसन्द कर लेते हैं तो उसके बदले में अधिक-से-अधिक रुपया पाने की कोशिश करते हैं। इसलिए भविष्य में भी जिस हद तक उनको काम पसन्द करने की स्वतन्त्रता रहेगी, वे उसका उपयोग करेंगे। आजकल बहुत कम लोगों को ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त है। किन्तु यह कल्पना की जा सकती है कि समाजवादी भविष्य में अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अधिक आर्थिक लाभ पाने का प्रयत्न इतना ख़राब समझा जायगा कि धोखेबाज़ ताश के खिलाड़ी की भाँति सामाजिक प्रतिष्ठा को खोये बिना कोई उसका आश्रय न ले सकेगा।

: ४ :

रूसी साम्यवाद

रूस दुनिया का सबसे बड़ा राष्ट्र है। यह दुनिया के एक-छठे हिस्से में फैला हुआ है। उसकी आबादी १७ करोड़ ५० लाख है और बराबर बढ़ रही है। इस देश ने पूँजीवाद को उखाड़ फेंका है और उसके स्थान पर साम्यवाद को अपनी नीति और सिद्धान्त बनाया है। वह मार्क्स को अपना देवता मानता है।

रूस में सन् १९१७ में क्रान्ति हुई। उसके बाद शुरू के कुछ वर्षों में वहाँ ऐसी ख़राब हालत रही कि लोग साम्यवाद को एक असम्भव वस्तु समझने लगे। किन्तु आज बीस वर्ष बाद रूस दुनिया के सामने यह उदाहरण पेश कर रहा है कि आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी दृष्टियों से पूँजीवाद की अपेक्षा समाजवाद सैकड़ों गुना श्रेष्ठ है। क्रान्ति के बाद रूस की बागडोर जिन लोगों के हाथ में आई, उन्हें शासन का कोई ख़ास अनुभव न था और इसलिए उनके हाथों बहुत-सी ग़लतियाँ भी हुईं। किन्तु उन्होंने अपनी ग़लतियों को छिपाया नहीं और पूँजीपतियों की तरह लोगों को धोखे में नहीं रक्खा। ज्योंही उन्हें अपनी भूल महसूस हुई कि उन्होंने खुले दिल से दुनिया पर उसे प्रकट किया और तेज़ी के साथ अपना रास्ता बदल दिया।

उन्होंने कार्ल मार्क्स की पूजा की। इसमें कोई शक नहीं कि मार्क्स महापुरुष हुआ है, किन्तु महापुरुष किसी व्यवसाय को कुशलतापूर्वक चलाना नहीं जानते। फ्रेड्रिक एन्जील्स कार्लमार्क्स का बड़ा पक्का दोस्त था। इन दोनों ने मिलकर वह प्रसिद्ध साम्यवादी घोषणा-पत्र लिखा जो आधुनिक ग्रन्थों में अपना अन्यतम स्थान रखता है। उन्होंने साम्यवाद को वैज्ञानिक जामा पहनाने की कोशिश की है। किन्तु विचार और व्यवहार दो अलग-अलग चीज़ें हुआ करती हैं। जैसाकि पहले

बताया जा चुका है कि निजी सम्पत्ति और व्यक्तिगत मुनाफाखोरी की प्रथा को तभी उठाना चाहिए, जबकि सरकार सब लोगों को काम देने की व्यवस्था कर सके और उत्पादन एक क्षण के लिए भी न रुके। अन्यथा देश को बेकारी और ग़रीबी का सामना करना पड़ेगा।

यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि आजकल किसी भी उद्योग को चलाने के लिए जहां मजदूरों की आवश्यकता होती है, वहाँ प्रबन्धकों और कुशल कारीगरों के बिना भी काम नहीं चल सकता। कोरे मजदूर जहाज के मल्लाहों के समान होते हैं जो कप्तान के अभाव में जहाज को निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुंचा सकते। अवश्य ही कारखानों के प्रबन्धक, जब वे पूंजीपतियों के अधीन होते हैं, मजदूरों के प्रति बड़ा बुरा व्यवहार करते हैं। इसलिए जब क्रान्ति होती है तो उन्हें लोगों का शत्रु समझा जाता है और निकाल बाहर किया जाता है। किन्तु जबतक नई सरकार के पास उनकी जगह लेने वाले योग्य व्यक्ति न हों तबतक ऐसा करना उचित नहीं होता।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि सरकारी नौकर अपने वेतन पर ही सन्तोष नहीं करते। जो काम उन्हें साधारणतः करना चाहिए, उसे करने के लिए वे जनता से रिश्वत खाते हैं। पूंजीवादी समाज में यह बीमारी इतना घर कर गई है कि कई देशों में सरकारी नौकर अपने मातहतों की तनख्वाहें चुराते हैं और यह सिलसिला ऊपर से लगाकर नीचे तक जारी रहता है।

तीसरे यह परम्परा बन गई है कि सरकारी नौकरों को जनता के प्रति उद्दण्ड व्यवहार करने में संकोच नहीं होता और जो वेतन उन्हें मिलता है, उसके बदले वे कोई काम नहीं करते।

रूस में ज़ारशाही का खात्मा सन् १९१७ में लिबरल क्रान्ति द्वारा हुआ और उसके स्थान पर पार्लमेण्टरी सरकार स्थापित हुई। उसके कर्णधारों ने बातें तो बड़ी-बड़ी बनाना शुरू कीं, किन्तु हालत में कुछ सुधार न किया। रूस किसानों का देश है। इन किसानों को सन् १९१४-१८ के युद्ध में मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ने के लिए सेना में भर्ती

किया गया था। सन् १९१७ के लगभग उनका सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया, जो लड़ाई के मोर्चे पर पहली बार जाने के समय पैदा होता है। उस समय इंग्लैंण्ड में सेना की नई भर्ती मन्द पड़ गई थी और लोगों को खाइयों में रखने के लिए अनिवार्य सैनिक सेवा का क़ानून जारी करना पड़ा था। अंग्रेज़ी सेना के पास हथियारों की कमी न थी और खाने को भी भरपूर मिलता था। उनके परिवारों को भी उचित आर्थिक सहायता दी जाती थी। किन्तु रूसी सैनिक इन सब से वंचित थे। उनमें से कइयों के पास न हथियार थे और न अन्य साधन-सामग्री। लड़ाई उनकी समझ के बाहर की बात थी। वे सिर्फ़ यह जानते थे कि एक विदेशी राजपुरुष को जिसका उनके साथ कोई सम्बन्ध न था, किसी ने मार डाला है और इसीलिए यह लड़ाई हो रही है। सुगठित जर्मन सेना ने सन् १९१७ के लगभग चारों ओर से रूसी सेना को संहार और परास्त करना प्रारम्भ किया। फलतः रूसी सैनिक बड़ी तादाद में भागने लगे। उन्होंने अफ़सरों पर अफ़सरी करने के लिए कमेटियाँ भी संगठित कीं। किन्तु इससे हार न रुकी। आखिरकार बागी सैनिक जिनके पास अपने खेत थे, वे खेत पर लौट आये। जिनको खेतों पर मजदूरी मिली, वे मजदूरी करने लगे। किन्तु अधिकतर बेकारों की टोली में शामिल हो गये और शान्ति तथा भूमि के लिए शोर मचाते हुए पेट्रोग्रेड की सड़कों पर भटकने लगे।

रूस की उदार सरकार बातें बनाती रही और लड़ाई को इस तरह जारी रक्खा मानों कुछ हुआ ही न हो। इस मौके पर लेनिन सामने आया। वह आग उगलने वाला नेता ही नहीं, बल्कि अपने ज़माने का सबसे बड़ा राजनीतिज्ञ साबित हुआ। लेनिन ने सैनिकों और नाविकों को शान्ति का आश्वासन दिया और थल और जल सेना का प्रेम-पात्र बन गया। किसानों को, जिनमें से अधिकांश फिर सिपाही बन गये थे, ज़मीन देने का वादा किया। इस प्रकार इन ताक़तों को अपनी पीठ पर करके लेनिन ने करेन्सकी कि सरकार को उखाड़ फेंका और देश से निकाल बाहर किया। उसने जर्मनी के साथ सुलह कर ली और

इस प्रकार शान्ति स्थापित करने का वादा पूरा किया। इसके लिए उसे रूसी पोलैण्ड छोड़ना पड़ा और बाल्टिक प्रान्तों में स्वतंत्र प्रजातंत्रों का क़ायम होना बर्दाश्त करना पड़ा। इस पर मित्रराष्ट्रों ने और वहाँ के अनेक उग्र क्रान्तिकारी समाजवादियों तक ने लेनिन की इस कार्य के लिए निन्दा की कि उसने अपने देश को यूरोप के शत्रु अर्थात् तत्कालीन जर्मन सरकार के हाथ बेच दिया।

लेनिन और उसके मुट्ठीभर अनुयायियों को इसके सिवा कुछ चिन्ता न थी कि साम्यवाद की स्थापना हो। किन्तु वे अधिकारारूढ़ उन किसानों, सैनिकों और मल्लाहों की सहायता से हुए थे जो साम्यवाद से उतने ही अपरिचित थे, जितने कि गणित से। वे केवल शान्ति के लिए ही उत्सुक न थे, बल्कि ज़मीन पर किसानों का स्वामित्व चाहते थे जिसे कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उग्र और कट्टर रूप कहना चाहिए। ऐसे लोक-समर्थन के सहारे इन मुट्ठीभर आदमियों ने ऐसी सेना खड़ी की है जो दुनिया में सबसे बड़ी है और खेती की ऐसी पद्धति जारी की है जिसका सम्मिलित रूप मुख्य अंग है। मुजिक्र किसानों ने, जो कभी बदल ही नहीं सकते, अपनी आंखों से देख लिया कि उनके बच्चों को उनसे बिल्कुल भिन्न बना दिया गया है।

किन्तु जिस तरीके से यह परिणाम आया, वह कुछ अच्छा न था। अवश्य ही यह उतना कठोर और लम्बा न था, जितना कि कारखानों का पूँजीवादी विकास का तरीका होता है। वर्षों तक परित्यक्त बच्चों की छोटी-छोटी टुकड़ियां देश में जहां-तहां घूमती हुई नजर आती थीं। उनका काम था भीख मांगना और चुराना। शिक्षाधिकारियों ने इन बच्चों को पकड़ने और सुधारने के लिए घोर श्रम किया। वे बार-बार भाग जाते थे। बड़ी मुश्किल से उन्हें समझाया जा सका कि इधर-उधर मारे-मारे फिरने की अपेक्षा अनुशासित जीवन वास्तव में अधिक स्वतंत्र और सुखी जीवन है। बाद में इनमें से कुछ ऊंचे-ऊंचे ओहदे पर भी पहुँचे, किन्तु इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि उनमें से हजारों प्यास, शीत और रोगों के शिकार बन गये।

आज रूस में एक भी बालक ऐसा न मिलेगा, जो भूखा हो, फटे-हाल हो अथवा अपने अनुकूल शिक्षा न पा रहा हो। लेनिन यह जानता था कि साम्यवाद की सफलता उस पीढ़ी पर निर्भर करती है जो दुनिया के लिए बिल्कुल नई हो। उसने जो शासन-व्यवस्था स्थापित की, उसमें बालिग़ व्यक्तियों को शुरू में पेट पर पट्टी बाँधनी पड़ी और रूखा-सूखा खाकर कठोर परिश्रम करना पड़ा, किन्तु बच्चों का अमीरों की भांति लालन-पालन किया गया और ऐसा करने में खर्च की कुछ परवाह न की गई। इसका नतीजा यह हुआ है कि ज़ार के ज़माने की अपेक्षा साम्यवाद के अधीन १६ वर्ष के लड़के-लड़की दो इंच लम्बे और चार पौण्ड भारी होते हैं।

मार्क्स ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि मुनाफ़ा कमाने के उद्देश्य से कोई व्यापार न किया जाय। बोल्शेविकों ने तदनुसार दुकानदारों को दुकानों से निकाल बाहर किया और चीजों का एक जगह ढेर लगा दिया। फलस्वरूप मास्को में कोई दूकान बाकी न बची। अवश्य ही लोगों को क्रय-विक्रय करना पड़ता था। इसके लिए वे गलियों और बाजारों में खड़े हो जाते। ऊंचे-ऊंचे घरानों की औरतें मामूली विक्रेताओं के साथ अपने जेवर बेचती हुई दिखाई देती थीं और शाम होने पर उन कमरों में रहने के लिए चली जाती थीं, जिनमें दस-दस श्रमजीवी एक साथ सोया करते थे। और चूँकि मकानों की दुरुस्ती के लिए कोई खास व्यक्ति जिम्मेदार न था, इसलिए उनकी हालत शीघ्र ही शोचनीय हो गई। एक मंजिल से दूसरी मंजिल में जाने के लिए खटोलों ने काम करना बन्द कर दिया, बिजली की बत्तियाँ बेकार होगई और सफ़ाई की दशा बयान नहीं की जा सकती। किन्तु यह सब साम्यवाद न था, पूँजीवाद की बर्बादी का नज़ारा था। पर सन् १९३१ के लगभग रूस की हालत बिल्कुल बदल गई। मि० बर्नार्ड शा लिखते हैं कि जब वह रूस में गये तो उनके साथ ऐसा बर्ताव किया गया मानों वह स्वयं कार्लमार्क्स हों। उन्हें वहां उन भयंकरताओं के दर्शन नहीं हुए जो पूँजीवादी पश्चिमी राष्ट्रों में मजदूरों की तंग

कोठरियों में पाई जाती हैं।

रूस में त्रुटियों की ओर आँख नहीं मींची जाती। उनको बिना किसी लाग-लपेट के दूर करने की कोशिश की जाती है। इसका कारण यह है कि रूस में पूँजीवादी स्वार्थों के साथ मेल नहीं बिठाना पड़ता। बर्बादी और गड़बड़ी के कुछ वर्ष अवश्य बीते, किन्तु इस अर्से में भी श्रमजीवियों में आशा और स्वाभिमान का संचार किया गया, जिसका कि पूँजीवाद देशों के श्रमजीवियों में सर्वथा अभाव पाया जाता है। लेनिन ने खुले तौर पर अपने साथियों से कहा कि उन्हें व्यवसाय का व्यावहारिक ज्ञान कुछ नहीं है। उसने कटु अनुभव के बाद यह महसूस किया कि जबतक सार्वजनिक व्यापार की आयोजना नहीं होती तबतक व्यक्तिगत मुनाफाखोरी को बन्द न करना चाहिए। उसको अपनी नई अर्थनीति की घोषणा करनी पड़ी, जिसके अनुसार खानगी व्यापारियों को अगली सूचना मिलने तक काम करने की स्वतंत्रता मिल गई। इस पर पूँजीवादी देशों में बड़ी खुशियाँ मनाई गईं, और इस कार्य को साम्यवाद के टूटने और पूँजीवाद की ओर लौटने का द्योतक समझा गया।

इससे पहले जब हालत बहुत खराब थी, पूँजीवादी राष्ट्रों ने ज़ार के समर्थकों को विद्रोह करने के लिए हथियारों और रुपये-पैसे की सहायता पहुँचाई। उन्होंने बहाना यह किया कि जिस उदार सरकार का तख्ता उलट चुका है, वही रूस की असली सरकार है और सोवियट लुटेरों का एक गिरोह है। इंग्लैण्ड ने दस करोड़ पौण्ड इस कार्य के लिए दिया। इतनी रक़म पार्लमैण्ट ने युद्ध के लिए भी मंजूर न की थी। उस समय मि० चर्चिल युद्ध-मंत्री थे। जब इंग्लैण्ड में 'रूस से दूर रहो' आन्दोलन शुरू हुआ तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उस समय रूस के विरुद्ध या और किसी देश के विरुद्ध खुला युद्ध सम्भव न था। महायुद्ध ने राष्ट्रों की कमर तोड़ दी थी। वे ज़ार के सेनापतियों की पीठ ज़रूर ठोक सकते थे। शुरू में ऐसा मालूम पड़ा कि सोवियट के पाँव उखड़ जावेंगे। हमलावर दल सफ़ेद सेना के नाम से मशहूर हुआ।

उसने जब क़ज़ान नामक स्थान को हथिया लिया तो बोल्शेविकों की दशा अत्यन्त निराशापूर्ण होगई। पीटर्सबर्ग का पतन चन्द घण्टों की बात मालूम होती थी। किन्तु दो साल के भीतर हमलावर दल को पूरी तरह हरा दिया गया और लाल फ़ौज ब्रिटिश बूट और ख़ाकी वर्दी पहन कर ब्रिटिश हथियारों से सज्जित होगई, जिन्हें मि० चर्चिल ने उसके विनाश के लिए भेजा था।

यह कैसे हुआ, यह समझने के लिए ज़मीन के प्रश्न पर विचार करना होगा। लेनिन शान्ति स्थापित करने और किसानों को जमीन देने के वाइदे पर अधिकारारूढ़ हुआ था। जर्मनी के आगे आत्म-समर्पण करके शान्ति तो उसने स्थापित कर दी, किन्तु ज़मीन का सवाल टेढ़ा था। किसानों ने ज़मींदारों को हकाल दिया या मौत के घाट उतार दिया और उनकी हवेलियों को लूट लिया या जला दिया। उन्होंने सोविएट पंचायतें क़ायम कीं, ज़मीन को बाँट लिया और खाद्य सामग्री पैदा करने लगे। किन्तु किसान बड़े व्यक्तिवादी होते हैं। जब उन्हें मालूम हुआ कि केन्द्रीय सरकार उनसे यह आशा करती है कि वे अपने गुजर लायक अन्न रख लेने के बाद शेष उपज राष्ट्रीय भण्डार में दे दें ताकि शहर के श्रमजीवियों को खाना खिलाया जा सके तो उन्होंने अतिरिक्त अन्न पैदा करना ही बन्द कर दिया और अपने पशुओं को ज़ब्ती से बचाने के लिए मार डालना ज़्यादा पसन्द किया। दबाव बेकार साबित हुआ। मास्को पुलिस के हाथ में यह था कि वह उन्हें निर्वासित करती, खानों में कड़ी मज़दूरी करवाती अथवा गोलियों से भून डालती, किन्तु इसका अर्थ यह होता कि सोने का अण्डा देने वाली मुर्ग़ी ख़त्म हो जाती। साधन अल्प थे और विद्रोही ताक़तों से लड़ने का सवाल सामने था।

किन्तु किसान मार्क्स के सिद्धान्तों से चाहे जितने दूर थे, फिर भी एक डर उन्हें था और वह यह कि कहीं पुराने जमींदार उन्हें सताने के लिए फिर न आजायं। मास्को के अधिकारियों को अब भी यह बात हैरानी में डाल देती है कि ज़ार के ज़माने के किसी निर्वासित भूस्वामी की मृत्यु का समाचार सरकार के पास पहुँचने के पहले किस प्रकार पहले

सम्बन्धित देहातों में फैल जाता है। जब क्रान्ति-विरोधी विद्रोह शुरू हुआ तो किसानों ने यही समझा कि यह भूस्वामियों के पुनः लौट आने का प्रयत्न है। उनके लिए यह काफ़ी था। ट्राटस्की जोरदार वक्ता और कुशल सेनापति के रूप में आगे आया। जब उसने क्रान्ति की रक्षा के लिए सैनिकों की माँग की तो गाँव-के-गाँव उलट पड़े। ट्राटस्की इस हलचल का केन्द्रीय संचालक था। उसका युद्ध-कार्यालय एक रेल के डिब्बे में था, जिस में वह अठारह महीने तक रहा। स्थानीय सेनापति ट्राटस्की की शतरंज के खिलौने-मात्र न थे। खासकर स्टालिन बिना ट्राटस्की की योजनाओं की परवाह किये जो भी रास्ते में आया, उससे भिड़ पड़ा। उसको पीछे धकेलना मुश्किल था, क्योंकि उसे अपनी लड़ाइयों में शानदार सफलता मिली थी। किन्तु अन्त में ट्राटस्की ने लेनिन से कहा कि या तो मेरा प्रभाव रहे या स्टालिन का। लेनिन ने बीच-बचाव किया, किन्तु यह घटना उल्लेखनीय है, क्योंकि यहीं से ट्राटस्की और स्टालिन के बीच मत-भेद की शुरूआत होती है। बाद में ट्राटस्की को निर्वासित होना पड़ा और उन षड्यंत्रों का सूत्रपात हुआ, जिनके फल-स्वरूप अनेक पुराने बोल्शेविकों को फांसी दी गई।

अनेक अभूतपूर्व विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी सोवियट की इतनी गहरी विजय हुई कि पूँजीवादियों को अपनी जिहाद छोड़नी पड़ी। हाँ, उन्होंने निन्दा और ईर्ष्या का अहिंसक व्यापार जारी रक्खा। इस सम्बन्ध में सबसे घृणित घटना यह हुई कि रूस सहायक-संघ के लन्दन दफ्तर में चोरी करवाई गई। इन सब कार्रवाइयों का रूस पर बहुत ज़्यादा बोझ पड़ा। इसी समय वोल्गा ज़िले में भयंकर दुष्काल पड़ा। अन्य राष्ट्र रूस को रुपया देने को तैयार न थे, क्योंकि वे इसे अपने ही विरुद्ध लड़ाई में सहायता देना समझते थे। इसके अलावा उस समय रूस की साख भी कुछ नहीं समझी जाती थी। भावी पीढ़ी के लालन-पालन और शिक्षा का बोझ सोवियट रूस ने दृढ़ता के साथ सहन किया। यदि कोई पूँजीवादी देश होता तो सबसे पहले यही ख़र्च कम किया जाता।

रूस का शिक्षा-प्रोग्राम काफ़ी ख़र्चीला था। पूँजीवादी देशों में बच्चों को स्कूल नामधारी क़ैदख़ानों में भर दिया जाता है और दस साल पढ़ चुकने के बाद भी वे न तो ख़ुद अपनी भाषा भली प्रकार बोल सकते हैं और न अच्छी तरह चिट्ठी ही लिख सकते हैं। उनमें से कुछ को ही उच्च शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति मिलती है और वे विश्वविद्यालयों से पूँजीवादी मशीन के पुर्ज़े बन कर निकलते हैं। रूसी विश्वविद्यालयों की शिक्षा समाजवाद के अनुकूल होती तो भी लाखों रूसी बच्चों का एक प्रतिशत भी उनमें न समा सकता था। रूस को तो संयुक्त कृषि-शालाओं और यंत्र-शालाओं की ज़रूरत थी। किन्तु संयुक्त कृषि बिना ट्रैक्टों (यांत्रिक हलों) के नहीं हो सकती और यंत्र-शालाओं के लिए बहु-मूल्य औज़ारों से सज्जित प्रयोगशालायें चाहिएं। इनको ख़रीदने के लिए रुपये की ज़रूरत थी और रुपया कोई देश रूस को देने को तैयार न था। कइयों ने तो रूस के साथ व्यापार करना ही बन्द कर दिया। ज्यों-त्यों करके रूस को अपने-आप चीज़ें निर्माण करनी पड़ीं। रूस में सभी अनभिज्ञ थे। रूस-जैसे विशाल देश के मुक़ाबिले में वहाँ के उद्योग बहुत छोटे थे। जो थे, उनकी कारख़ानों की ज़ब्ती और मुनाफ़ाख़ोरों के बहिष्कार के कारण काफ़ी बुरी हालत होगई थी, इस में तबतक सुधार न हुआ जबतक या तो पुराने प्रबन्धकों को वापस न बुलाया गया या साम्यवादी दल ने नये प्रबन्धक तलाश न कर लिये।

रूस में रेलें भी बहुत कम थीं। ज्योंही उनकी ज़ब्ती घोषित की गई कि लोग सरकारी नौकरी को मुफ़्तख़ोरी का ज़रिया समझने लगे। जिस समय लोगों को भूखों मरने से बचाने के लिये निहायत फ़ुर्ती की ज़रूरत थी, उस समय देहाती स्टेशन-मास्टर बड़े आराम के साथ काम करने लगे। उनकी लापरवाही से तंग आकर यातायात के मिनिस्टर ने एक बार ख़ुद एक स्टेशन के कर्मचारियों को गोली से उड़ा दिया। आख़िर मुफ़्तख़ोर और सुस्त कर्मचारियों पर नियंत्रण रखने के लिए एक पुलिस दल संगठित किया गया। यह दल 'चेका' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह अब रूसी पुलिस का ख़ुफ़िया विभाग है। उसने

शुरू-शुरू में अपनी सख्ती की धाक जमा दी।

'चेका' सरकारी नौकरों में जिम्मेदारी की भावना लाने में सफल हुआ। उसके दबाव तले उन्होंने महसूस किया कि यदि वे जान-बूझ कर सरकारी काम को नुकसान पहुँचायेंगे तो उन्हें गोली से उड़ा दिया जायगा या ग़लती की तो उन्हें फ़ौरन पदभ्रष्ट कर दिया जायगा। इसका नतीजा यह हुआ कि रोजमर्रा का निर्दिष्ट काम बराबर होने लगा। किन्तु इंजीनियरों और बिजली-विशेषज्ञों की पूर्ति इससे न हुई, जिनकी कि बड़ी तादाद में रूस को आवश्यकता थी।

रूसी सरकार ने अमेरिका से इंजीनियर बुलाये। उन्होंने बताया कि किस प्रकार कारख़ानों का निर्माण और प्रबन्ध करना चाहिए। उनकी देख-रेख में योरोपीय और एशियाई रूस में नये-से-नये ढंग के फौलाद और कांच के कारख़ाने बड़ी तादाद में खुले और यह आशा की गई कि अब आवश्यक सामग्री बड़े परिमाण में तैयार होने लगेगी। किन्तु जिन मजदूरों को इन कारख़ानों में काम पर लगाया गया, वे बिल्कुल नये थे और जानते न थे कि किस प्रकार यंत्रों का उपयोग करना चाहिए। फलस्वरूप जहां पचास ट्रैक्टर रोजाना तैयार होने की आशा की गई, वहाँ मुश्किल से तीन-चार तैयार होते और वे भी ठीक तरह काम न कर पाते, किन्तु सरकार ने हिम्मत न हारी और अमेरिकनों के अलावा बेल्जियम, इंग्लैंड, जर्मनी आदि देशों से साधारण मजदूरों का नेतृत्व करने के लिए कुशल कारीगर बुलाये। इसके बाद कारख़ाने ठीक तरह से काम करने लगे। कुछ ही अर्से बाद रूसी लोगों ने इन कारख़ानों का संचालन अपने हाथों में ले लिया। जगह-जगह बाँध बांधे गये और नहरें निकाली गईं। कैदियों को इन कामों में लगा दिया गया। जेलों की थोथी मशक्कत से यह काम खुद कैदियों को भी बड़ा लाभदायक प्रतीत हुआ।

इस बीच व्यापारी अपना काम करते रहे। रूस में किसानों का एक वर्ग है जो 'कुलक' कहलाता है। ये विशाल पैमाने पर खेती किया करते थे। बोल्शेविक सरकार ने मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार इनकी

ज़मीनें छीन लीं। किन्तु आम किसान उनका स्थान न ले सकते थे। फलतः खेती बर्बाद होगई। जब सरकार ने नई अर्थ-नीति अपनाई तो कुलक लोगों को वापस बुलाया गया और काम पर लगाया गया।

मध्यम श्रेणी के शिक्षितों पर भी नई व्यवस्था में पाबन्दियां लगाई गई। उन्हें वोट देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। उनके बच्चों को बची-खुची शिक्षा-सुविधा पर सन्तोष करना पड़ा। खयाल यह था कि इन लोगों का पूंजीवादी स्वभाव कठिनता से बदलेगा और आम लोगों में संचालन की योग्यता काफ़ी मात्रा में विद्यमान है, केवल उसको विकास का अवसर नहीं मिला है। सिद्धान्त की दृष्टि से यह ठीक है. किन्तु स्वाभाविक योग्यता के साथ साक्षरता और थोड़ा व्यावसायिक अनुभव भी होना चाहिए। राज्य ने जिन कारखानों को क़ायम किया था उनमें पढ़े-लिखे लोगों की भी काफ़ी ज़रूरत थी। आखिर मध्यम श्रेणी के लोगों को काम पर लगाया गया। सिर्फ उन्हें इतना कहना पड़ा कि उनके माता-पिता किसान थे। उनको बाद में बौद्धिक श्रमजीवी के नाम से पुकारा जाने लगा। इनमें ऐसे भी कुछ लोग थे जो किसी काम के लायक न रह गये थे या नई व्यवस्था में काम करना पसन्द न करते थे। उनकी हालत बुरी हुई, किन्तु उनके बच्चों ने जल्दी ही साम्यवादी तत्वों को अपना लिया। जो शोषण करने वाले वर्ग थे, जैसे कि भूस्वामी, मकान-मालिक और ऊंचे घरानों वाले, वे सब दूसरे देशों को भाग गये और यथासम्भव मौज से अपनी जिन्दगी बसर करने लगे। उन्हें उम्मीद थी कि रूस में फिर पुराना ज़माना आयगा, किन्तु अभीतक तो उनकी यह उम्मीद पूरी नहीं हुई है।

रूस का शाही परिवार भगोड़ों में शामिल न हो सका। उदारवादी क्रान्ति ने जब उसे पदच्युत किया तो करन्स्की और उसके साथियों को यह नहीं सूझा कि उसका क्या किया जाय। जिस प्रकार इंग्लैण्ड और फ्रांस में राजाओं को मौत के घाट उतारा गया, उसी प्रकार रूस के ज़ार को भी क्रान्तिकारी अदालत के सामने पेश करके गोली से उड़ाया जा

सकता था, किन्तु इससे ज़ार के अनुयायियों को बड़ा धक्का लगता, जो यद्यपि कमजोर पड़ गये थे, किन्तु बिल्कुल शक्तिहीन नहीं हो चुके थे। जब बोल्शेविकों ने लिबरलों की जगह ली तो उन्होंने भी ज़ार और उसके परिवार को सफेद सेना की पहुँच से दूर एक प्रान्तीय देहात में पड़ा रहने दिया।

दुर्भाग्यवश चैकोस्लोवाकिया की एक फौजी टुकड़ी उस समय रूस में होकर गुजर रही थी। चैक लोगों ने अपने नेता मसारिक की अधीनता में तत्कालीन स्थिति का लाभ उठाया और राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगेरी के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों से मिल गये। उन्होंने रूसी सफेद सेना को अपना मित्र और रूसी लाल सेना को शत्रु समझा। चैक सेना ज़ार के निवास-स्थान के इतनी नज़दीक पहुँच गई थी कि शायद वह ज़ार को कैद से छुड़वा लेती। स्थानीय बोल्शेविक अधिकारी इसके लिए तैयार न थे। उन्होंने बड़ा विचित्र और अभूतपूर्व तरीका अख्तियार किया। उन्होंने ज़ार के निवास-स्थान पर पादरी को भेजकर विशेष प्रार्थना का प्रबन्ध किया और उसके बाद ज़ार और उसके परिवार को दूसरे स्थान के लिए रवाना होने के लिए तैयार रहने का आदेश दिया। बेचारों को ज़रा भी पता नहीं था कि कुछ ही क्षण के भीतर वे इस दुनिया से विदा हो जायंगे। अचानक बन्दूकधारी सैनिकों का एक दल कमरे में घुसा और पलक मारते में ज़ार को, उसकी बीवी को, उसके लड़के और तीन लड़कियों को धड़ा-धड़ गोलियों का शिकार बना दिया। बाद में उन सब के शव जंगल में ले जाये गये और घासलेट का तेल छिड़क कर जला दिये गये। दुनिया के एक शक्तिशाली सम्राट और उसके परिवार का यह कितना करुण अन्त था। सोवियट सरकार की बाद में जैसी शानदार विजय हुई, उसको देखते हुए यदि चैक-सेना ने ज़ार को बचा लिया होता तो भी कुछ बिगड़ न जाता। दूसरे पदच्युत बादशाहों की भांति वह भी यात्रियों के मनोरंजन का साधन होता।

कोई भी सरकार जो पूँजीवाद के स्थान पर साम्यवाद की स्थापना

करने की इच्छुक हो, उसे जान-बूझ कर घोटाली करने वालों की मनोवृत्ति का मुक़ाबिला करने की तैयारी रखना चाहिए। पूंजीवादी व्यवस्था में यह देखने में आता है कि कारीगर लोग अपने काम में कुछ-न-कुछ दोष रहने देते हैं जिससे थोड़े अर्से में उनकी फिर ज़रूरत पड़ती है और उनको पैसा पाने का मौक़ा मिल जाता है। किन्तु रूस में उन लोगों ने, जो बोल्शेविकों से घृणा करते थे, जान-बूझ कर मशीनों को बिगाड़ दिया, हिसाबों में गोल-माल किया और आगामी फ़स्ल के बीजों तक को बेकार कर दिया। इसकी वजह थी। जो लोग क्रान्ति के पहले आराम से ज़िन्दगी बसर कर रहे थे और जो इस बात से अपरिचित थे कि उनके आराम के साथ ग़रीबों के दुःखों का अनिवार्य सम्बन्ध है, जब उनके घरों पर विद्रोही श्रमजीवियों ने अधिकार जमा लिया, उनकी आय के साधन ज़ब्त कर लिये, उनका पूर्व आदर-सम्मान जाता रहा, उनका वोट देने का अधिकार छीन लिया गया, उनके बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की उपेक्षा की गई तो उनको बुरा क्योंकर न लगता? उनमें बदला लेने की भावना जाग्रत हुई और उन्होंने शरारत में ही सन्तोष माना। इन लोगों का दो ही तरह से इलाज किया जा सकता था। या तो उन्हें 'चेका' (पुलिस) के सिपुर्द किया जाता जो उन पर मुक़दमा चलाती और गोली से उड़ा देती या उनके लिए फिर आराम की ज़िन्दगी सुलभ की जाती। यह आसान न था, क्योंकि जबतक लोग उन्हें आदर की दृष्टि से देखना शुरू न करते, तबतक उन्हें सन्तोष न होता। फिर इस विक्षेप को अधिक दिन तक जारी भी नहीं रहने दिया जा सकता। सौभाग्यवश उनके बच्चों का लालन-पालन दूसरी परिस्थिति में हुआ और वे व्यवस्था को स्वाभाविक और अनुकूल समझने लगे। कुछ घोटाला करने वालों ने, जो चालाक थे, जब देखा कि सोवियटवाद लाभदायक है तो पश्चात्ताप किया और ठीक राह पर आगये। किन्तु यह बिल्कुल सम्भव है कि जबतक ज़ार के ज़माने के मध्यम श्रेणी के लोग सब ख़त्म न हो जायंगे, तबतक जान-बूझ कर होने वाली शरारत जारी रहेगी।

लोगों की अक्सर यह धारणा होती है कि क्रान्ति के बाद सब

हालात विल्कुल वदल जायंगे। इसलिए आने वाले स्वर्ग की प्रतीक्षा में वे पहले से ही हाथ-पर-हाथ धर कर बैठ रहते हैं। किन्तु वे भूल जाते हैं कि साम्यवाद को चलाने के लिए पूँजीवादी ज़माने से भी ज़्यादा कुशल कारीगरों और विशेपज्ञों की ज़रूरत होती है।

क्रान्ति के परिणामों के बारे में महिलाओं का कुछ विचित्र ही खयाल वना। जो अधिक कल्पनाशील थीं, उन्होंने सोचा कि श्रमजीवियों की हुकूमत में स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध स्वच्छन्दता-पूर्ण होंगे और सामाजिक मर्यादाओं को एकदम हटा दिया जायगा। सोविएट शासक यद्यपि अपने व्यक्तिगत जीवन में संयमशील थे, किन्तु अधिकार और सत्ता से उन्हें इतनी चिढ़ हो गई थी कि उन्होंने नासमझ महिला-मित्रों की वेहूदगी को वर्दाश्त किया, नैतिक नियमों में इतना परिवर्तन किया कि तलाक वड़ा सरल होगया। किन्तु अनुभव लोगों को अव स्वच्छंदता से संयम की ओर ले जा रहा है।

यदि हम साम्यवाद का विश्लेपण करें तो हमें मालूम होगा कि आय की समानता साम्यवाद का सार है। किन्तु मार्क्स व्यक्तिगत सम्पत्ति की बुराइयों से इतना अभिभूत था कि वह इस समस्या की ओर ध्यान ही न दे सका। जब रूस में नई अर्थ-नीति सामान्य समृद्धि लाने में असमर्थ रही और सोविएट सरकार पर लोगों को काम देने और उनको मजदूरी स्थिर करने का भार पड़ा तो उसे अनुभव हुआ कि स्टेशन-मास्टरों अथवा शरावी मजदूरों को गोली से उड़ा देने से आवश्यक उत्पादन नहीं हो सकता और न ही मजदूरों की वे टुकड़ियाँ कारगर हो सकती हैं जो देश मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक लोगों को अपने उदाहरण से काम करना सिखाती फिरती थीं। आवश्यकता इस बात की थी कि काम के प्रकार निश्चित किये जाते और मजदूरों का भी विभाजन किया जाता। हर प्रकार के काम के लिए सिलसिलेवार बढ़ी हुई मजदूरी तय की जाती। इस प्रकार निम्न श्रेणी के मजदूरों को उच्च श्रेणी का काम करने की योग्यता प्राप्त करने पर अधिक मजदूरी पाने का हक़ होता। कुछ वोल्शेविक नेता अव भी यह मानते हैं कि आय की समानता समाजवाद

का अंग नहीं है और काम और मज़दूरी का विभाजन मानवी योग्यता में विद्यमान स्वाभाविक विषमताओं का रुपये के रूप में मूल्य आँकना है। किन्तु बात ऐसी नहीं है। इसे तो विशेष मेहनत करने की प्रेरणा मात्र समझना चाहिए।

असलियत यह है कि जन्मजात योग्यता, क़द, वजन, रूप-रंग आदि में कितना ही अन्तर क्यों न हो, सब लोगों के खान-पान और निवास के लिए बराबर रक़म की जरूरत पड़ती है। सब लोगों को समान सतह पर लाने के लिए पहला क़दम यह उठाया जाना चाहिए कि हर व्यक्ति के लिए एक रक़म निश्चित की जाय। जहाँ तक मामूली मज़दूरों का ताल्लुक़ है, सभी देशों में इस समय भी समान मज़दूरी निश्चित है। यदि साम्यवादी सरकार हरएक की आमदनी उस हद तक घटाने की कोशिश करेगी तो उसे प्रथम श्रेणी के दिमाग़ी कार्यकर्त्ता मिलने मुश्किल हो जायँगे जो दूसरों को रास्ता दिखाने का काम करते हैं। ऐसे लोगों की अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है, अतः उनको कुछ अधिक मज़दूरी दी जानी चाहिए, ताकि वे कुछ अधिक सुसंस्कृत और एकान्तिक जीवन बिता सकें। इस प्रकार उत्पादन बढ़ाया जाय और जब काफ़ी उत्पादन होने लगे तो अन्य लोगों की मज़दूरी भी उस सीमा तक बढ़ादी जाय। यदि उत्पादन के दौरान में यह मालूम पड़े कि किसी श्रमिक को आर्थिक प्रोत्साहन देने से वह पहले की अपेक्षा दुगुना उत्पादन कर सकता है तो कोई कारण नहीं कि उसे ऐसा प्रोत्साहन क्यों न दिया जाय? चूँकि ऐसे प्रयोग पूँजीवादी व्यवस्था में किये जाते हैं, केवल इसी-लिए हमें उनका बहिष्कार न करना चाहिए। पूँजीवादी व्यवस्था तो इसलिए टूटी कि उसमें आवश्यकता से अधिक उत्पादन किया गया। समाजवादी व्यवस्था में यह होना चाहिए कि जब लोगों की आमदनी एक सीमा तक पहुँच जाय तो बाद में राज्य आय-कर, उत्तराधिकार-कर आदि लगा कर उसे सीमा से आगे न बढ़ने दे, ताकि समाज में ऊंच-नीच की भावना पैदा न हो और लोग बिना किसी अड़चन के अपने बाल-बच्चों के शादी-विवाह कर सकें। यह ध्यान में रखना चाहिए कि

आय की समानता और उसके फलस्वरूप क़ायम होने वाली सामाजिक समानता मानव-समाज की स्थिरता के लिए आवश्यक है और आय की समानता की कसौटी यह है कि सब लोग बिना किसी भेदभाव के आपस में शादी-विवाह कर सकें।

रूस की सोविएट सरकार की सफलताओं का थोड़े में वर्णन नहीं किया जा सकता। इंग्लैण्ड के दो ग्रन्थकारों—सिडने और बिट्रिस वेब ने 'सोविएट साम्यवाद : एक नई सभ्यता' नामक अपनी ११४३ पृष्ठों की पुस्तक में उन सब का विस्तार से वर्णन किया है। सन् १९३६ में मास्को में नया विधान जारी किया गया है। इस विधान के द्वारा यूरोप और अमेरिका के लोकमत को खुश करने की कोशिश की गई है। किन्तु इसकी उपयोगिता की अभी परीक्षा होनी शेष है।

ट्राटस्की का खयाल है कि रूस को यूरोप के श्रमजीवियों का अगुआ बनाना चाहिए और इस प्रकार पूँजीवादी राष्ट्रों के साथ हमेशा युद्ध की स्थिति में रहना चाहिए। स्टालिन इस बात से सहमत नहीं है। उसका कहना है कि पहले अपने घर पर शक्ति लगानी चाहिए और वहां आदर्श समाजवाद की स्थापना कर लेनी चाहिए। इस बारे में विजय स्टालिन की हुई है। ट्राटस्की आज रूस से निर्वासित है। स्टालिन की विजय विवेक की विजय है।

फासिस्टवाद—यहाँ फ़ासिस्टवाद का थोड़ा जिक्र कर देना भी अप्रासंगिक न होगा। फासिस्टवाद दुनिया के लिए कोई नया वाद नहीं है। आज के फासिस्टवाद और पुराने फासिस्टवाद में यदि कोई अन्तर है तो केवल यही कि उसका प्रयोग भिन्न परिस्थितियों में हो रहा है। जब राज्य-संस्था की गति इतनी धीमी हो जाती है कि वह अपना काम ठीक नहीं कर सकती तो कोई साहसी पुरुष आगे आता है और बग़ावत का झंडा खड़ा करके राज्य-सत्ता को हथिया लेता है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। रोम के जूलियस सीजर, इंग्लैण्ड के क्रोमवेल, और फ्रांस के नेपोलियन तथा उसके भतीजे लुई नेपोलियन की गणना ऐसे ही लोगों में की जा सकती है। ये पुराने ज़माने के फासिस्ट नेता थे।

सौ वर्ष पहले राज्य-संस्थाओं को सिर्फ पुलिस का काम करना पड़ता था। शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग-धन्धों आदि कामों से उनका कोई सरोकार न होता था। उस समय लोगों में इतना असन्तोष न होता था, जितना कि आजकल की पार्लमेंण्ट-पद्धति की सुस्ती और सरकारी नौकरों की अयोग्यता के प्रति पाया जाता है। इसका कारण यह है कि आजकल सरकारों का कार्य-क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। उन्हें राष्ट्रीय जीवन के हर विभाग की व्यवस्था करनी पड़ती है।

जनता की बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यूरोप में लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणालियों का सूत्रपात किया गया। किन्तु इनमें बहस-मुबाहिसा अधिक होता है और जो काम तत्काल होना चाहिए, वह महीनों और सालों बीत जाने पर भी नहीं हो पाता। रूस ने जिन बातों को अल्पकाल में सिद्ध कर दिखाया अर्थात् बेकारी और दरिद्रता जैसे भयंकर मानव-शत्रुओं को मार भगाया, उनको कथित लोकतंत्री देशों में अनिवार्य बताया जाता है। इंग्लैंण्ड का ही उदाहरण लीजिए। मताधिकार को व्यापक बनाने के लिए वहाँ बड़े-बड़े आन्दोलन हुए और यह आशा की गई कि उनके परिणाम-स्वरूप आदर्श समाज-व्यवस्था क़ायम की जा सकेगी। सन् १६१८ में स्त्रियों को मताधिकार मिलने के बाद जनता को बालिग़ मताधिकार मिल गया और इस प्रकार पार्लमेंण्ट पर अधिक-से-अधिक लोक-नियंत्रण स्थापित हो गया। किन्तु इसका नतीजा क्या हुआ? स्त्रियों को मताधिकार मिलने के बाद पार्लमेंण्ट का जो चुनाव हुआ, उसमें केवल एक महिला चुनी जा सकी। इतना ही नहीं, मज़दूर-दल का समाजवादी नेता तक चुनाव में हार गया। वे सब आशायें हवा में उड़ गईं जो बालिग़ मताधिकार के कारण पैदा हुई थीं और स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। शासन-सूत्र उन चन्द पूंजीपतियों के हाथ में ज्यों-का-त्यों बना रहा जो पैसे के ज़ोर पर लाखों स्त्री-पुरुषों के वोट ख़रीद सकते थे। लोकतंत्र प्रणाली की इस विफलता के कारण ही जर्मनी और इटली में फासिस्ट नेताओं ने पार्लमेंण्टों को पीछे धकेल दिया है और रूस में कांग्रेस साल में एकाध बार बुलाई

जाती है और आवश्यक सुधार-योजनायें उससे मंजूर करवाली जाती हैं। इन योजनाओं को बनाने में उसका कोई हाथ नहीं होता।

पार्लमैंएट-प्रणाली में एक बड़ा दोष यह आगया है कि कोई भी आदमी तबतक सत्ता और सरकारी नौकरी प्राप्त नहीं कर सकता, जब-तक कि वह पार्लमैंएट या धारा-सभा में चुना न जाय। और चुनाव-कार्य इतना पतनकारक और खर्चीला हो गया है कि एक ग़रीब आदमी तबतक उसमें सफल नहीं हो सकता जबतक वह अपने जीवन का अच्छे-से-अच्छा भाग उसके लिए न लगादे। इसके विपरीत एक धनवान, जिसका बड़े लोगों से सम्बन्ध हो, चन्द हफ्तों में किसी निर्वाचन क्षेत्र से कामयाब हो सकता है। गरीब वर्ग के उम्मीदवार कामयाब होने के बाद भी बहस करने के अलावा और कुछ नहीं कर सकते। उनमें यदि कोई अपना व्यक्तित्व रखता हो तो वह प्रधान-मंत्री भी बन सकता है, किन्तु यह तभी होता है जब पार्लमैंएट को यह विश्वास हो जाता है कि वह बात करने के अलावा कुछ न करेगा। किन्तु ऐसे उदाहरण नवयुवक क्रान्तिकारी नेताओं के लिए शिक्षाप्रद सिद्ध होते हैं। वे यह समझने लगते हैं कि यदि उनको पंगुपन से बचना हो तो उन्हें पार्लमैंएट में जाने का मोह छोड़कर अपने व्यक्तिगत अनुयायियों का एक सैनिक दल खड़ा करना चाहिए, ताकि उसके जरिये पार्लमैंएटी ताक़तों को दबाया जा सके।

किन्तु ऐसा करना कुछ आसान नहीं होता। इस प्रकार के प्रयत्नों में अनेकों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा है। पर कुछ असाधारण रूप से सफल भी हुए। यद्यपि दोनों नेपोलियन परास्त होकर या तो कैद-खाने में या निर्वासन में मरे, किन्तु एक तेरह वर्ष तक और दूसरा अठारह वर्ष तक सम्राट रहा। अभी यह कहना कठिन है कि हमारे ज़माने के प्रसिद्ध तानाशाह बेनितो मुसोलिनी और हेर हिटलर का क्या भविष्य होगा। किन्तु यह सत्य है कि दोनों ही अनेक वर्षों से अपने राष्ट्रों के प्रधान सूत्रधार हैं।

थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि आप सच्चे और योग्य सुधारक

हैं। आप देखते हैं कि अमुक राजा के राज्य अथवा लोकतंत्र में सभ्यता का पतन हो रहा है और सिवाय बातें बनाने और दलबन्दियों के झगड़े के और कुछ नहीं होता, तो आप क्या करेंगे? क्या आप यह नहीं कह उठेंगे कि यदि पाँच या दस साल के लिए मेरे हाथ में सर्वाधिकार हो तो मैं क्या नहीं कर सकता? यह आवश्यक है कि आप को क्रोमवेल या आयरिश नेता रोबर्ट एमेट की भांति पार्लमेण्ट अथवा जनता के बारे में कोई ग़लत धारणा न होनी चाहिए। क्रोमवेल ने पार्लमेण्ट को इंग्लैण्ड के राजा का सिर उतारने के लिए प्रेरित किया, किन्तु जब उसने पार्लमेण्ट में सर्वश्रेष्ठ लोगों को भरने की कोशिश की तो वह बुरी तरह असफल हुआ और उसको फ़ौजी क़ानून के ज़रिये इंग्लैण्ड का शासन चलाना पड़ा। आयरिश नेता एमेट ने यह आशा की थी कि उसकी पुकार पर लोग आज़ादी के लिए उठ खड़े होंगे, किन्तु यह उसकी दुराशा सिद्ध हुई और उसे फांसी पर लटका दिया गया। हमारे आधुनिक अधिनायक ऐसे किन्हीं भ्रमों के शिकार नहीं हैं। वे श्रमजीवी आन्दोलन और संगठन तथा गुप्त षड्यंत्रों की प्रत्येक धारा का अनुसंधान करते हैं और कुछ वर्षों की जेल भी काट आते हैं। इससे उन्हें मालूम हो जाता है कि श्रमजीवी संस्थायें और उनके नेता या तो बहुत कम व्यावहारिक होते हैं या ऐसे आदर्शवादी और सनकी होते हैं कि जिनको शासन की वास्तविकताओं का कोई ज्ञान नहीं होता और न जिनमें लड़ने की कोई ताकत ही होती है। ये लोग हमेशा आपस में झगड़ते रहते हैं और सब-के-सब अत्यन्त अल्प संख्या में होते हैं। उनसे यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे कभी कोई अच्छा या बड़ा काम कर सकेंगे।

ऐसी दशा में नेपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी या कमाल पाशा[1] जैसा आदमी क्या करेगा? वह अपने आपको छोटी-छोटी राजनैतिक दल-बन्दियों से अलग कर लेगा और उनके मुकाबिले में विशाल जन-समूह

१. गत वर्ष मृत्यु हो गई।

को संगठित करने का प्रयत्न करेगा। आम जनता की एक अजीब मनोवृत्ति होती है। वह प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध षड्यंत्र करने का ख़याल भी नहीं करती। वह समझती है कि पुलिस को राज्य-विरोधी संस्थाओं को दबा देना चाहिए। वह अच्छे कपड़े पहन कर मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों या मेलों-ठेलों में जाती है, हॉकी फुटबाल, टेनिस या कबड्डी खेलती है। राज़-दरबारों, शाही शादियों या घुड़दौड़ के प्रदर्शनों में शरीक होती है, किसी राजा, सन्त या औलिया के शव-दर्शन के लिए लाखों की तादाद में जमा हो जाती है, अपना खास धर्म और आचार समझती है, किन्तु करती वही है जो सब करते हैं। जो नहीं करता, उस पर बिगड़ पड़ती है। पहेलियों का हल निकालने में अपना दिमाग़ खपाती है और खेल-तमाशों में अपना शरीर। अधिकतर लोग ऐसे होते हैं जो इन सब बातों से दूर रहते हैं और कमाने तथा अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करने में जीवन गुजार देते हैं। जो लोग राजनैतिक और सामाजिक मामलों में दिलचस्पी लेते हैं, उनको आम जनता शंका और अरुचि की निगाह से देखती है या सनकी समझती है। किसी-किसी का वह आदर भी करती है, पर वह नहीं जानती कि वह ऐसा क्यों करती है। ये लोग अपने आपको देशभक्त समझते हैं। क्योंकि उनके ख़याल से परमात्मा ने उनको दूसरे देशों के लोगों से ऊँचा बनाया है। इस दम्भ को संन्तुष्ट करने के लिये वे कीर्ति के प्यासे होते हैं अर्थात् यह जानने को उत्सुक रहते हैं कि उनके बहादुर भाइयों और पुत्रों ने कितनी लड़ाइयों में विजय प्राप्त की। इतिहास उनके लिये युद्धों की एक शृंखला होता है, जिसमें उनके पक्ष की हमेशा विजय होती है।

यदि ऐसे विशाल जन-समाज को राजनैतिक रूप में संगठित किया जाय तो कहना न होगा कि वह राजनैतिक दृष्टि से जाग्रत छोटे-छोटे दलों को पृथ्वी तल पर से निःशेष करने के लिए मत दे सकता है और आवश्यक हो तो स्वयं भी उन्हें मौत के घाट उतार सकता है। ऐसी दशा में अधिनायक यही कर सकता है कि वह मूर्खों के साथ उनकी मूर्खता के अनुकूल बर्ताव करे अर्थात् जैसी बातें उन्हें पसन्द हों, वैसी

बातें बनावे और लगन के साथ ऐसे सुधार जारी करने पर जुट जाय जो सबके लिए लाभदायक और समझ में आने योग्य हों तथा प्रचलित व्यवस्था की प्रकट खराबियों को रोक दे। वह पहला काम यह करेगा कि स्थानीय व्यापारियों की छोटी-छोटी कौंसिलों को रद्द कर देगा जो टैक्स लगाने और देश पर शासन करने के लिए पार्लमेंएट का निर्माण करती हैं। उनके स्थान पर वह ज़िलों की हालत सुधारने के लिए उत्साही और कार्यक्षम् युवक अफ़सर मुकर्रर करेगा जिनको अधिनायक की ओर से पूरे अधिकार प्राप्त होंगे। इस प्रकार वह स्थानीय शासन-प्रबन्ध में न केवल फ़ौरन सुधार कर सकेगा; बल्कि जन-साधारण की इस आकांक्षा की भी तुष्टि कर सकेगा कि पुराने बदनाम गुट्ट को हटा कर उसके बजाय किसी एक योग्य व्यक्ति को कार्य-भार सौंपा जाय।

अधिनायक का दूसरा काम यह होगा कि वह अपनी सत्ता से स्वतंत्र लोगों के आर्थिक और राजनैतिक संगठनों को छिन्न-भिन्न कर देगा। यह विशुद्ध हिंसा द्वारा आसानी से किया जा सकता है। अत्यन्त निर्दोष सहयोग समितियों और प्रतिष्ठित श्रमजीवी संघों को अराजकवादी अथवा साम्यवादी गुप्त-संघों के साथ शामिल कर दिया जायगा और उन्हें राजद्रोह और राष्ट्रनायक के शत्रुओं का अड्डा घोषित किया जायगा। उसके बाद अधिनायक के लिए प्राण न्योछावर करने वाले नौजवानों का दल इन संस्थाओं के दफ़्तरों में घुस पड़ेगा, उनमें रहने वालों को मारेगा-पीटेगा, फर्नीचर को तोड़-फोड़ डालेगा, तिजोरी खाली कर लेगा और सदस्यों की सूची हस्तगत करके उनका पता लगा लेगा और उनको मार-पीट करके ठीक कर देगा। पुलिस की सहानुभूति इस दल के साथ होगी और प्रत्याक्रमण होने की हालत में वह उसकी रक्षा के लिए उद्यत रहेगी।

जब संस्था-भंजन का काम पूरी तरह हो चुकेगा तो राष्ट्रनायक अमन क़ायम करने की ओर ध्यान देगा। जिन संस्थाओं के पास रुपया-पैसा और ज़मीन-जायदाद तथा बड़ा कारबार होता है, उनको उपरोक्त तरीक़े से नष्ट नहीं किया जा सकता। फासिस्ट शासक ऐसी संस्थाओं की

जायदाद जब्त कर लेते हैं और राजकीय नियंत्रण के अधीन उन्हें राजकीय विभाग बना देते हैं। विशुद्ध राजनैतिक संस्थायें जिनके पास पूँजी कुछ नहीं होती और जिनका प्रचार ही एकमात्र काम होता है, वे इस आक्रमण के फलस्वरूप खत्म हो जाती हैं और उनको पुनः जीवित करने के सब प्रयास ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिये जाते हैं।

उदार दल के अनुयायी इन कारंवाइयों के विरुद्ध बड़ा शोर मचाते हैं। वे कहते हैं कि स्वतंत्रता और लोकतंत्र के उदार सिद्धान्तों को कुचल दिया गया है और भाषण-स्वातंत्र्य, विचार-स्वातंत्र्य, निजी सम्पत्ति और निजी व्यापार के अधिकारों पर, जिन पर कि उनका पूँजीवाद आश्रित है, आक्रमण किया जा रहा है। किन्तु यह याद रखना चाहिए कि इससे बढ़कर लोक-तंत्रात्मक बात और क्या होगी कि विशाल जन-समूह को संगठित किया जाय और सार्वजनिक कार्य उनकी कल्पना के अनुसार संचालित किया जाय अर्थात् अधिक कार्यक्षम व्यक्ति के हाथ में अपनी बात मनवाने की पूरी सत्ता हो। जब राष्ट्रनायक उदारवादियों तथा उनके अधिकारों और स्वतंत्रता का घृणा के साथ उल्लेख करता है और अनुशासन व्यवस्था, शान्ति, देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति की अपील करता है तो जनता उसका उत्साह-पूर्वक उत्तर देती है और उदारवादी काले पानी के टापुओं, नजरबन्द कैम्पों और जेलखानों में सड़ते रहते हैं अथवा आम सड़कों पर उनकी लाशें पड़ी हुई नज़र आती हैं। अधिनायक-तंत्र में न केवल औसत नागरिक के विचारों को कार्य-रूप दिया जाता है, बल्कि ऊपरी तौर पर तत्काल और असाधारण सफलता नजर आने लगती है। अमुक विभाग का प्रधान, जो उत्साही युवक होता है, छोटी-छोटी त्रुटियों को दूर कर देता है और जिन अत्यावश्यक सार्वजनिक कामों को जारी करने में पुराने कर्मचारियों को छः साल लगते, उनको वह छः महीने में जारी करवा देता है। पेरिस का पुनर्निमाण लुई नेपोलियन के जमाने में हुआ और इटली में पहली बार रेलें ठीक समय पर मुसोलिनी के जमाने में दौड़ीं। इस बीच अधिनायक इस बात की सावधानी रखता है कि शान-शौक़त का खूब प्रदर्शन हो, व्याख्यानों में बड़ी-बड़ी बातें

बनाई जायं, अख़बारों द्वारा प्रचार हो, स्कूलों और विश्वविद्यालयों में फ़ासिस्ट शिक्षा दी जाय और उसके शासन की कम-से-कम आलोचना हो। इस प्रकार एक अच्छे नेता की अधीनता में कुछ समय के लिए फ़ासिस्टवाद फलता-फूलता है और पूर्णतः लोकप्रिय और लोकतंत्रात्मक सिद्ध होता है। यही कारण है कि लोगों का फ़ासिस्टवाद की ओर झुकाव है। और यह बात भी है कि औसत नागरिक स्वभाव से और शिक्षा से फ़ासिस्ट होता है और वह सुधारकों और क्रान्तिकारियों को राजद्रोही सनकियों का अल्प-संख्यक दल समझता है। यद्यपि हिंसा और लूट-मार द्वारा श्रमजीवी संस्थाओं के विनाश की बात हमारे अन्तःकरण को आघात पहुँचाती है, किन्तु उनका राजकीय विभागों में परिवर्तित होजाना एक संयुक्त मोर्चे को जन्म देता है और जो श्रमजीवी शक्तियां प्रवाहशील और विरोधी टुकड़ियों में बंटी होती हैं, वे एक ठोस तन्त्र के रूप में एकत्र हो जाती हैं। लोकतंत्र का यह सिद्धान्त है कि सार्वजनिक कार्य सब का कार्य है, किन्तु व्यवहार में यह सिद्धान्त काम नहीं देता, क्योंकि सबका काम किसी का काम नहीं हुआ करता। इस सिद्धान्त के कारण सार्वजनिक कामों के प्रति वास्तविक जिम्मेदारी की भावना नष्ट हो जाती है। अतः फ़ासिस्टवाद में एक अधिनायक या प्रधान अफ़सर मुक़र्रर किया जाता है जो किसी भी दशा में अपनी जिम्मेदारी की उपेक्षा नहीं कर सकता। यह ख़याल भ्रमपूर्ण है कि चुनाव द्वारा जो म्यूनिसिपल या पार्लमेण्ट का मेम्बर बनता है वह उस अफ़सर के सामान ही जिम्मेदार होता है जिसे कि पहली ग़लती पर या अयोग्य सिद्ध होने पर तुरन्त बर्ख़ास्त किया जा सकता है।

फ़ासिस्टवाद की एक विशेषता यह भी है कि वह दलगत बेहूदा विरोध का ख़ात्मा कर देता है। पार्लमेण्ट-प्रणाली में यह होता है कि एक दल शासन करने का प्रयास करता है और दूसरा उसके मार्ग में रुकावटें डालता है। जिस व्यवस्था में इतने लाभ हों, वहां कोई नेपोलियन पार्लमेण्ट को उखाड़ दे सकता है और लोग उसे राष्ट्र का त्राता कह कर वोट दे सकते हैं। किन्तु इसकी पकड़ यह है कि

प्रतिभाशाली फासिस्ट व्यक्ति अमर नहीं होते और जैसा कि नेपोलियन का उदाहरण है, उनकी शक्ति उनके जीवन-काल में भी क्षीण हो सकती है। यदि वे फासिस्ट व्यवस्था को अयोग्य हाथों में छोड़ जायं तो उसका परिणाम महा भयंकर हो सकता है। रूस के ज़ार पीटर ने रूस में बड़े-बड़े परिवर्तन किये; पीटर्सबर्ग का निर्माण किया। ज़ारीना कैथराइन द्वितीय ने महिलाओं के विचारों और संस्कृति में बड़ा उत्कर्ष किया। किन्तु उसका उत्तराधिकारी ज़ार पॉल अपना दिमाग ठिकाने न रख सका और अपने दरबारियों द्वारा मार डाला गया। रोम के सम्राट नीरो की देवताओं के समान पूजा की गई, जिससे विचारा पागल हो गया। आखिर उसको भी बुरी तरह मारा गया। इसका कारण यह था कि उसमें पूर्व रोमन सम्राटों—जूलियस सीजर और ऑगस्टस—जैसा मनोबल और राजनैतिक बुद्धिमानी न थी। अतः राष्ट्र को ऐसे विधान की आवश्यकता है कि जो एक योग्य और दूसरे अयोग्य शासक के बीच के जमाने में ठीक तरह काम दे सके। निरंकुश शासकों का सारा इतिहास यह बताता है कि बीच-बीच में राष्ट्र गड़बड़ी और बरबादियों के शिकार हुए और समय-समय पर योग्य राजा या प्रधान मन्त्री ने उनको पुनः ठीक दशा में पहुँचाया। हमारे वर्तमान फासिस्ट नेता भी यह नहीं कह सकते कि उनका उत्तराधिकारी कौन होगा और न ही यह शंका मिट सकती है कि न जाने कब इन की बुद्धि का दिवाला निकल जाय और कुछ-का-कुछ हो जाय। यही कारण है कि राजनीति विशारद पार्लमेण्टरी प्रणाली से चिपटे हुए हैं जिसमें असाधारण अच्छा या बुरा कुछ नहीं हो सकता।

फिर जन-साधारण में सैनिक महत्वाकांक्षा भी होती है जिसे फासिस्ट नेताओं को सन्तुष्ट करना पड़ता है। रूस की ज़ारीना कैथराइन द्वितीय ने जब देखा कि उसकी प्रजा गड़बड़ करने लगी है तो उसने लोगों के लिए युद्ध का मोर्चा खड़ा कर दिया। यद्यपि, आज युद्धों का रूप अत्यन्त भयंकर बन चुका है, फिर भी फासिस्ट नेता बराबर अपनी तलवारें खड़-खड़ाते रहते हैं और प्रजा को संन्तुष्ट रखने के लिए युद्ध को

आखरी साधन बना सकते हैं।

किन्तु फासिस्टवाद की सब से बड़ी कमजोरी यह है कि वह पूंजीवादी सभ्यता को पतन के गड्ढे की ओर जाने से नहीं रोक सकता। यदि आप लोगों को उनके अज्ञान के आधार पर संगठित किया जाय तो यह हो सकता है कि अयोग्य सरकारों का तख्ता उलट दिया जाय, एक नेता की पूजा होने लगे, युद्ध के लिये सैनिकों को कूच करते देखकर लोग राष्ट्र-प्रेम में उन्मत्त हो जाँय। प्रदर्शनों और व्याख्यानों के अवसर पर आकाश गुंजा दिया जाय और गरीबों की असंगठित संस्थाओं का नामोनिशान मिटा दिया जाय। किन्तु इस प्रकार सभ्यता की रक्षा नहीं की जा सकती। यह तो उसके विनाश का खुला मार्ग है। फासिस्ट नेता ईमानदारी के साथ यह चाह सकता है कि इतिहास उसको शक्तिशालियों को नीचे लाने वाला और गरीबों को ऊंचा उठाने वाला बनावे। आर्थिक समानता स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है। उसके बिना आधुनिक राष्ट्रों में समृद्धि और शान्ति नहीं हो सकती। किन्तु फासिस्ट यह प्रयोग नहीं कर सकते। उनके विषय में तो यही कहना पड़ेगा कि धनवानों को उन्होंने और धनवान बनाया और गरीबों को खाली पेट रवाना किया। वे गरीबों की संस्थाओं के कार्यालयों को जला सकते हैं, किन्तु यदि उन्हें किसी भूस्वामी का बंगला जलाने को कहा जाय तो वे कहने वाले को पागल ठहरा देंगे। वे भूत को बुला तो सकते हैं, किन्तु उसे वापस भेजना नहीं जानते।

फासिस्ट नेता गरीबों की लूट-खसोट के बाद जब यह अनुभव करता है कि समाज-रचना की महान योजनाओं के लिए उसे धनवानों को लूटना चाहिए तो वह अपने को बेबस पाता है। इसमें शक नहीं कि गुण्डे लोग, जो किसी भी हिंसात्मक आन्दोलन में शामिल होने के लिए दौड़ पड़ते हैं, भूस्वामी अथवा बैंकर को उतनी ही आसानी से यमराज के घर की राह बता सकते हैं, जितनी आसानी से कि वे किसान या मजदूर को। किन्तु फासिस्ट नेता के लिए शीघ्र ही यह आवश्यक हो जाता है कि वह उन पर काबू प्राप्त करे और उनको अपने योग्य स्थान अर्थात

जेल में पहुँचा दे। इसके बाद उसकी सेना का जो मुख्य भाग बच रहता है, उसमें से कुछ को उसे नियमित पुलिस-दल में भर्ती कर लेना पड़ता है और शेष काम-धन्धों में लगा दिये जाते हैं। यदि फासिस्ट नेता व्यक्तिगत सम्पति और व्यक्तिगत मुनाफाखोरी को जड़-मूल से मिटाने की चेष्टा करे तो उसके बहुसंख्यक अनुयायी उसका हर्गिज समर्थन न करेंगे। अवश्य ही वह उनके अधीनस्थ उद्योग-धन्धों में अत्यधिक स्वार्थपरता पर थोड़ा प्रतिबन्ध लगा सकता है। वह छोटे कारखानेदारों को आधुनिक मशीनरी लगाने और बुद्धिसंगत तरीके काम में लाने के लिए विवश कर सकता है। इसमें उनको तो फायदा ही होता है। यदि बर्बाद होते हैं तो वही जो अत्यधिक गरीब होते हैं। फासिस्ट नेता छोटे कारखानेदारों को बड़े कारखानों में शामिल होने के लिए मजबूर कर सकता है, क्योंकि छोटे कारखानेदार बड़े कारखानेदारों के आगे, जिनकी पूँजी करोड़ों रुपया होती है, ठहर नहीं सकते। वह फासिस्ट-विरोधी शक्तियों को भय दिखाकर एक बड़ी जल और थल सेना रखने के लिए उनके मुनाफों पर टैक्स लगा सकता है। वह उन्हें समझा सकता है कि मामूली आर्थिक सुधार व्यापारिक दृष्टि से भी लाभदायक है। वह उनको और उनके सम्मिलित व्यापारिक संघों को राष्ट्र के विधान में भी स्थान दे सकता है; किन्तु वे इसे पसन्द न करेंगे और उसे लीपा-पोती करने से आगे न बढ़ने देंगे।

यदि फासिस्ट नेता समाजवाद की दिशा में इससे आगे बढ़ने की कोशिश करेगा तो वह क्रान्तिकारी या बोल्शेविक हो जायगा। फासिस्ट नेता के हाथ में सब से अधिक कारगर हथियार यह रहता है कि वह बोल्शेविकों से समाज की रक्षा करने आया है। वह चाहे जिस श्रमजीवी आन्दोलन को बोल्शेविक नाम दे सकता है। वह किसी भी सार्वजनिक काम को, यदि वह अपने अनुकूल हो तो फासिस्ट और अनुकूल न हो तो बोल्शेविक बता सकता है। किन्तु यदि वह समाजवाद की तरफ़ ज़रा भी पैर बढ़ाने का प्रयास करता है तो धनिक वर्ग के कान खड़े हो जाते हैं। कल्पना करो कि फासिस्ट नेता अपने देश की राजधानी

की पुनर्रचना प्रारम्भ करता है। उसके इस काम की हर कोई तारीफ करेगा। किन्तु इसका परिणाम यह होगा कि जमीन की कीमतें बहुत बढ़ जायंगी और यह रुपया जमीन के मालिकों की जेबों में चला जायगा। सामान्य नागरिकों की हालत में कोई परिवर्तन न होगा। उन्हें पहिले के समान ही कठोर परिश्रम करना पड़ेगा और गरीबी का सामना करना पड़ेगा। शहरों में मोटरों और लॉरियों वालों की सुविधा के लिए प्रशस्त राजमार्ग बनाये जाते हैं और इन सड़कों के दोनों तरफ की ज़मीन इमारतें बनाने के लिए काम में लाई जाती है। इस प्रकार पहले जिस जमीन का मूल्य सौ या पचास रुपया होता है, उसी का हजार-पन्द्रह सौ रुपया हो जाता है। पूंजीवाद का हमारे समाज में इतना जोर है कि इस प्रकार बिना कुछ परिश्रम किये कुछ लोगों की जेबों में हजारों रुपया चला जाता है। और कोई उसके खिलाफ आवाज़ नहीं उठाता।

यदि लुई नेपोलियन ने पेरिस में प्रशस्त सड़कें बनाने के साथ ही इमारतें बनाने और किराये वसूल करने का काम म्युनिसिपैलिटी को सौंपा होता तो उसे दस वर्ष पहले ही अपने तख्त से हाथ धो लेना पड़ता। यदि हम इस बात की तुलना करें कि सन् १६२६ की मंदी के बाद रूस ने कितनी प्रगति की है और फासिस्ट देशों ने उससे दूने अर्से मे कितनी प्रगति की है तो हमें मालूम हो जायगा कि फासिस्टवाद में पूँजीवाद की सारी कमियाँ और बुराइयाँ विद्यमान हैं और वह सभ्यता की रक्षा नहीं कर सकता, उद्योगों में वह जो सुधार करता है, उसका परिणाम भी यही होता है कि बेकारों की संख्या बढ़ती है। वह बेकार-वृत्तियाँ देता है, इसलिए कि बेकार कहीं उपद्रव न कर बैठें। जब मजदूर भूस्वामियों को धनवान बनाने के लिए गढढों को भरने और सड़कें बनाने का काम पूरा कर चुकते हैं तो यह सवाल पैदा होता है कि पेट भरने के लिए वे आगे क्या करें? फासिस्टवाद कहता है कि जमीन और पूंजी व्यक्तिगत सम्पत्ति है, अतः उसका मजदूरों के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता। इसके मुकाबिले में साम्यवाद कहता है कि मजदूरों को इस तरह संगठित किया

जाना चाहिए कि वे दूसरों को धनवान बनाने के बजाय अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिश्रम करें।

यह बताया जा चुका है कि फासिस्ट सरकार ग़रीबों को मनमाने तौर पर लूट सकती है, किन्तु धनवानों को नहीं लूट सकती। कभी-कभी धनिकों में से एक वर्ग जब बहुत अधिक धनवान हो जाता है तो उसको लूटने का लोभ संवरण करना कठिन होता है। किन्तु इसके लिए उस वर्ग के विरुद्ध धार्मिक, राजनैतिक अथवा जातीय आधार पर पहले जनता में काफी विरोध पैदा करना ज़रूरी होता है। इंग्लैण्ड के बादशाह हेनरी आठवें ने चर्च की जायदाद लूटी और कैथोलिक पादरी होना जुर्म करार दे दिया, किन्तु उसे फौरन लूट का माल छोड़ना पड़ा और अपने प्रादेशिक अफ़सरों में बाँट देना पड़ा। इसी प्रकार हिटलर ने भी जर्मनी में यहूदियों को लूटा है और यहूदी होना पाप ठहरा दिया है। किन्तु जब्तशुदा सम्पत्ति का उपयोग जर्मन कारख़ानेदार कर रहे हैं जो यहूदियों की तरह ही मजदूरों का शोषण करते हैं। हिटलर की निगाह लूथर और कैथोलिक गिरजों की तरफ भी लगी हुई है, किन्तु जर्मन जनता पर भौतिकवाद और सैनिकवाद का अभी इतना असर नहीं हुआ है कि वह अपने इरादों को पूरा कर सके। हिटलर ने यहूदियों और उनके मित्रों को अपना शत्रु बनाकर तथा गिरजाघरों की निश्चन्तता को भंग करके बड़ी जोखिम उठाई है। उसने रूस के विरुद्ध भी यूरोप में एक गुट बनाने की कोशिश की थी, किन्तु उसे अपना क़दम पीछे हटाना पड़ा और आज वह रूस के मित्र के रूप में युद्ध का दाव खेल रहा है।

फासिस्टवाद के लिए बड़ा खतरा यह है कि उसके नेता की जान के गाहक कम नहीं होते। इटली के फासिस्ट नेता मुसोलिनी पर कई बार हमले हो चुके, किन्तु वह अभी तक अपने सिर को सही-सलामत रख सका है। यद्यपि मुसोलिनी के साथी पादरियों के सख्त विरोधी हैं और स्वयं मुसोलिनी हमेशा नागरिक भाषा में बोलता है, फिर भी उसने पोप के साथ समझौता कर लिया है और अपने शासन को धर्म-विरोधी समस्याओं से मुक्त रक्खा है। इटली में मजहबों को नहीं सताया जाता। वहाँ

राजा है, कौंसिल है, सिनेट और धारासभा है, २१ वर्ष या इससे अधिक उम्र वाला व्यक्ति और यदि शादी शुदा हो तो १८ वर्ष की उम्र का व्यक्ति मत (वोट) दे सकता है। प्रान्तीय कौंसिलें और स्थानीय म्युनिसिपैलिटियां भी हैं जो संयुक्त प्रान्तीय शासन-तंत्र के अधीन काम करती हैं। इस प्रकार वहाँ वे सब संस्थायें विद्यमान हैं, जिनसे लोग एक अर्से से परिचित हैं। राजा शून्य के बराबर है अथवा पार्लमैण्ट में फासिस्ट नेता ही सबकुछ है, इस बात से लोगों को कुछ मतलब नहीं होता। उनके लिए तो इतना ही काफी है कि पार्लमैण्ट का भवन बना हुआ है और उसमें समय-समय पर पार्लमैण्ट की बैठकें हो जाती हैं। साधारणतः लोग परिवर्तन नहीं चाहते। जर्मनी में फासिस्ट क्रान्ति ने जो परिवर्तन किये, उनका लोगों ने इसलिए स्वागत किया कि सन् '१८ की पराजय ने जर्मनी की दशा इतनी खराब कर दी थी कि उसको बर्दाश्त करना असम्भव था।

साम्यवाद और फासिस्टवाद दो विरोधी तत्व हैं, किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि कुछ विषयों में दोनों का परिणाम एक-सा होता है। उदारवादी जिसे स्वतंत्रता और लोकतंत्र कहते हैं, उसका दोनों ही सफ़ाया करते हैं। उदारवादियों के मतानुसार स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि राजकीय हस्तक्षेप न हो और लोकतंत्र का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अमर्यादित राजनैतिक सामर्थ्य लेकर जन्म लेता है, जो न केवल अपना, बल्कि सारे देश का हित सोच सकता है, और छोटे-से-छोटे कर्मचारियों से लगाकर प्रधान-मंत्री तक सबको चुनने की योग्यता रखता है। लोकतंत्र में सार्वजनिक मामलों का अन्तिम निर्णय मत-गणना द्वारा किया जाता है। फासिस्ट नेता भी इस उपाय को पसन्द करते हैं। हिटलर इसका कई मर्तबा आश्रय ले चुका है। स्वतंत्रता का शब्द सम्पत्ति के मालिकों की जबान पर हमेशा रहता है। जमीन और पूँजी का अधिकाँश भाग उनके कब्जे में होता है और वे उनका राष्ट्रीयकरण पसन्द नहीं करते। वे कहते हैं कि सरकार का जितना कम हस्तक्षेप होगा, उतने ही लोग स्वतंत्र होंगे। इस स्वतंत्रता के नाम पर पार्लमैण्ट में ऐसे लोग चुने

जाते हैं जो हमेशा मौजूदा व्यवस्था का समर्थन करते हैं। फलस्वरूप स्वतंत्रता और लोकतंत्र, जैसा कि ऊपर बताया गया है, उस समय तक ठीक काम देते हैं, जबतक कि सरकार पुलिस के काम के अलावा और कुछ नहीं करती, किन्तु जब कोई फासिस्ट नेता शासन की अन्धेरगर्दी को दूर करने के लिए आगे आता है या सोविएट तंत्र पूँजीवाद को नष्ट करके लोगों का पेट भरने के लिए सब प्रकार के काम हाथ में लेता है तो स्वतंत्रता और लोकतंत्र की उपरोक्त परिभाषाओं को रद्दी की टोकरी में फेंक देना पड़ता है।

दुनिया में ऐसे भी लोग होते हैं जो स्वतंत्रता न होने पर भी स्वतंत्रता की और शान्ति न होने पर भी शान्ति की रट लगाते हैं। ऐसे लोग हास्यास्पद मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। फासिस्टवाद और साम्यवाद में उत्पादन के तरीकों अथवा औद्योगिक अनुशासन के सम्बन्ध में अन्तर नहीं है, असली भेद विभाजन के सम्बन्ध में है। इस सम्बन्ध में पूँजीवाद बुरी तरह असफल हुआ है। इसका एकमात्र इलाज साम्यवाद है; किन्तु फासिस्टवाद लोगों को साम्यवाद से घृणा करने की शिक्षा देता है। फासिस्टवाद के पक्ष में यदि कुछ कहा जा सकता है तो यही कि वह लोगों को अपने छोटे स्वार्थों की अपेक्षा राष्ट्रीय स्वार्थों का विचार करना सिखाता है।

इस प्रकार फासिस्टवाद उदारवाद से अच्छा है, क्योंकि वह राष्ट्र की शक्तियों को संगठित करता है और राष्ट्रीय दृष्टिकोण पैदा करता है। किन्तु जबतक वह व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करता है, तबतक समाज में एक ओर असाधारण अमीरी और दूसरी ओर असाधारण गरीबी क़ायम रहेगी और श्रमजीवी क्रान्ति का भय हमेशा बना रहेगा। यदि फासिस्टवाद पूँजीवाद की आखिरी ओट बना रहता है तो उसका अन्त निश्चित है।

४८. [देखो नवजीवन माला]
४९. स्वर्ण विहान* ।≈)
५०. मराठों का उत्थान और पतन २॥)
५१. भाई के पत्र १)
५२. स्वगत* ।≈)
५३. युगधर्म* १≈)
५४. स्त्री-समस्या १॥।)
५५. विदेशी कपड़े का मुक़ाबिला* ॥≈)
५६. चित्रपट ।≈)
५७. राष्ट्रवाणी* ॥≈)
५८. इंग्लैण्ड में महात्माजी ॥।)
५९. भावीक्रांति का संगठन (रोटी के सवाल' का नयासंस्करण)॥।)
६०. दैवी संपद् ।≈)
६१. जीवन-सूत्र ॥।)
६२. हमारा कलंक ॥≈)
६३. बुद्बुद् ॥)
६४. संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५. गांधी-विचार-दोहन ॥।)
६६. एशिया की क्रांति* १॥।)
६७. हमारे राष्ट्र निर्माता १॥)
६८. स्वतंत्रता की ओर १॥)
६९. आगे बढ़ो ॥)
७०. बुद्धवाणी ॥≈)
७१. कॉंग्रेस का इतिहास २॥) ।-)
७२. हमारे राष्ट्रपति १)
७३. मेरी कहानी २॥)
७४. विश्व-इतिहास की झलक ८) ≈)
७५. हमारी पुत्रियाँ कैसी हों ? ॥)
७६. नया शासन विधान ॥।)
७७. [१] हमारे गाँवोंकी कहानी॥)
७८. [२] महाभारत के पात्र १-२ ॥) ॥)
७९. गाँवों का सुधार संगठन १)
८०. [३] संतवाणी ॥)
८१. विनाश या इलाज ? ॥।)
८२. [४] अंग्रेजी राज्य में हमारी दशा ॥)
८३. [५] लोक-जीवन ॥)
८४. गीता-मंथन १॥)
८५. [६] राजनीति प्रवेशिका ॥)
८६. [७] हमारे अधिकार और कर्तव्य ॥)
८७. गांधीवाद : समाजवाद ॥।)
८८. स्वदेशी : ग्रामोद्योग ॥)
८९. [८] सुगम चिकित्सा ॥)
९०. प्रेम में भगवान् ॥)
९१. महात्मा गांधी ।≈)
९२. [१०] हमारे गांव और किसान ॥)
९३. ब्रह्मचर्य ॥)
९४. गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ २)
९५. हिन्दुस्तान की समस्यायें १)
९६. जीवन संदेश ॥)
९७. समन्वय २)
९८. समाजवाद : पूँजीवाद ॥।)

नोट [ब्रैकेट-नम्बर लगीं एक से दस तक की पुस्तकें 'लोक साहित्य माला' की हैं।]

'नवजीवनमाला' की पुस्तकें

१. गीताबोध—महात्मा गांधी-कृत गीता का सरल तात्पर्य—(दूसरी बार) —)॥

२. मंगल प्रभात—महात्मा गांधी के जेल से लिखे सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों पर प्रवचन (चौथी बार) —)

३. अनासक्तियोग—महात्मा गांधी-कृत गीता की टीका (सातवीं बार) =), ≡), ।)

४. सर्वोदय—रस्किन के 'Unto This Last' का गांधीजी द्वारा किया गया रूपान्तर (तीसरी बार) —)

५. नवयुवकों से दो बातें—प्रिंस क्रोपाटकिन के 'A word to Youngmen' का अनुवाद (तीसरी बार) —)

६. हिन्द-स्वराज—महात्मा गांधी की भारत की मौजूदा समस्याओं पर लिखी गई प्राचीन पुस्तक जो आज भी ताजी है—(दूसरी बार) ≡)

७. गांधीजी का मार्ग—आचार्य कृपलानी ने इस पुस्तिका में बड़ी सरलता से बताया है कि आज के कशमकश के जमाने में हमें गांधीजी के बताये रास्ते से ही आजादी मिल सकती है। —)

८. किसानों का सवाल—डा० अहमद की इस छोटी-सी पुस्तिका में भारत के इन ग़रीब प्रतिनिधियों के सवाल पर बड़ी सुन्दरता से विचार किया गया है। (तीसरी बार) =)

९. ग्राम-सेवा—ग्राम-सेवा के रूप, साधन और प्रकार पर महात्मा गांधी ने इसमें विशद प्रकाश डाला है (दूसरी बार) =)

१०. खादी और गादी की लड़ाई—आचार्य विनोबा के खादी और समाज-सेवा-सम्बन्धी लेख और व्याख्यानों का संग्रह =)

११. मधुमक्खी-पालन—श्री चित्रे ने इस पुस्तक में मधु-मक्खियों के पालनके बारे में प्रकाश डाला है और बताया है कि किस प्रकार हम इस ग्रामोद्योग के द्वारा बेकारों को काम दे सकते हैं =)

१२. गांवों का आर्थिक सवाल—गांवों के आर्थिक प्रश्नों तथा उनको हल करने की योजनाओं का ग्राम-सेवक विद्यालय के अध्यापक, श्री झवेरभाई पटेल ने इस पुस्तक में संग्रह किया है ≡)

१३. राष्ट्रीय गायन—देश-भक्तिपूर्ण राष्ट्रीय गायनों का संग्रह (दूसरी बार) =)

१४. खादी का महत्व—श्री गुलजारीलाल नन्दा-द्वारा लिखा खादी विषयक प्रमाणिक और खादी की महत्ता और उपयोगिता बताने वाला निबंध। -)॥

सामयिक साहित्य माला की पुस्तकें

१. कांग्रेस का इतिहास (१६३५-३६) ।-)
२. दुनिया का रंगमंच (जवाहरलाल नेहरू) =)
३. हम कहाँ हैं ? ,, ,, =)
४. युद्ध-संकट और भारत (संकलन) ।)
५. सत्याग्रह : क्यों, कब, कैसे ? (गांधीजी) ≡)
६. राष्ट्रीय-पंचायत—(संग्रह) ।)

बाल साहित्य माला की पुस्तकें

१. नसीरुद्दीन की कहानियाँ—१ =)
२. कथा-कहानी—१ =)
३. शिवाजी चरित्र =)
४. देश-प्रेम की कहानियाँ—१ =)